मालिक और मजदूर

[ग़रीबों व अमीरों की समस्याओं के निबन्धों का संग्रह]

लेखक
लिओ टालस्टाय

अनुवादक
श्री शोभा लाल गुप्त

नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर

प्रकाशक
गोकुलदास धूत
नवयुग साहित्य सदन, इन्दोर

प्रथम संस्करण : १९४५
मूल्य
सवा रुपया

मुद्रक
अमरचन्द्र जैन
राजहंस प्रेस, सदर बाज़ार, दिल्ली

विषय-सूची

दो शब्द

यह पुस्तिका रूसी महापुरुष टालस्टाय के कुछ निबन्धों का संग्रह है। महर्षि टालस्टाय ने इन निबन्धों में हमारे वर्तमान समाज की अवस्था पर गहराई के साथ विचार किया है। 'मालिक और मजदूर' नाम से पाठक इस भ्रम में न पड़ें कि इन निबन्धो में कारखानों में काम करने वाले श्रमजीवियों और पूंजीपतियों की समस्या पर ही विचार किया गया है। संसार इस समय दो प्रधान श्रेणियों में विभाजित हो रहा है। एक ओर धनवान हैं तो दूसरी ओर गरीब। इन्हीं को पर्याय से आप मालिक और मजदूर, शासक और शासित, अधिकार सम्पन्न और अधिकार शून्य, जमींदार और किसान आदि अनेक नामों से पुकार सकते हैं। कल-कारखानों में काम करने वाले श्रमजीवियों की संख्या तो बहुत थोड़ी है। आधुनिक युग के विविध आविष्कारों के बावजूद भी आज अधिकांश मानव समाज कृषि पर जीवन निर्वाह करता है, और यह शहरों में नहीं, छोटे-छोटे देहातों में बसा हुआ है। इसलिए जब हम मानव समाज की समस्या पर विचार करते हैं तो हम इन देहातों में बसने वाले असंख्य श्रमजीवियों को दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। अतः पाठक इन निबन्धों को पढ़ते समय इस बात को ध्यान में रखें कि 'मालिक और मजदूर' शब्दों का उनके बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है।

यह निर्विवाद है कि आज का मानव समाज वह नहीं जो कि उसे होना चाहिए। उसमें उत्पीड़न है, शोषण है, कलह है, संघर्ष है, अशान्ति है, मार-काट है। सक्षेप में कहें तो उसकी अवस्था पशु-समाज से कुछ अच्छी नहीं, बदतर भले ही हो। यह क्यों ? इसका उत्तर भी सभी ओर से एक ही मिलता है, कि कुछ व्यक्तियों ने स्वार्थ से प्रेरित हो कर संसार के सुख-साधनों को हथिया लिया है और मानव समाज में ऐसी प्रणालिका जारी कर दी है कि हरेक को अपने जीवन के लिए कठोर संघर्ष करना पड़ता है और मनुष्य अपने फलने-फूलने के लिए अपने भाई का, अपने पड़ौसी का गला काटने में भी संकोच नहीं करता। ऊपर से लगा कर नीचे तक यही क्रम चल रहा है। किन्तु इस क्रम में निर्बलों की मौत और बलवानों की चांदी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि नंगों-भूखों की संख्या करोड़ों पर जा पहुंची है और जिन्हें भौतिक और अन्य प्रकार के समस्त साधन उपलब्ध हैं, उनकी गिनती अंगुलियों पर की जी सकती है। इन चन्द मुट्ठी भर लोगों के प्रति बहुजन समाज के

हृदयों में भयंकर असन्तोष की ज्वाला धांय-धाय कर रही है।

स्थिति दिन प्रति दिन भयावह होती जा रहा है। यह अस्वाभाविक स्थिति कितने दिन कायम रह सकती है? उसको बदलना होगा। किन्तु प्रश्न यह है कि उसको किस प्रकार बदला जाय। पाठकों को इस प्रश्न का उत्तर इन निबन्धों में मिलेगा। आज तक मानव समाज को आदर्श, मानव समाज बनाने के लिए अनेक वाद प्रचलित हो चुके हैं। समाजवाद, पूंजीवाद, अराजकतावाद, धर्मवाद आदि अनेक वादों का नाम लिया जा सकता है। महर्षि टालस्टाय ने हरेक वाद को, हरेक विचार को अपनी कसौटी पर कसा है और अपनी विवेक बुद्धि के अनुसार निर्भय हो कर उनकी खामियों को हमारे सामने प्रस्तुत किया है। वे किसी वाद के, अन्ध समर्थक नहीं। वे मूलतः धार्मिक अन्तःकरण वाले व्यक्ति थे, इसलिए धर्म-भावना पर ही उन्होंने अधिक जोर दिया है। भौतिक साधन नहीं, आध्यात्मिक कल्याण उनका लक्ष्य रहा।

महर्षि टालस्टाय ने सीधे-सादे शब्दों में मनुष्य के आचरण के लिए कुछ सूत्र उपस्थित कर दिये हैं। वे यह मानते हैं कि सारी खराबी की जड यह है कि मनुष्य इस स्वर्ग नियम को भूल गया कि हमको दूसरों के साथ ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिए जो हम नहीं चाहते कि दूसरे हमारे साथ करें। जहाँ तक किसानों की तात्कालिक समस्या का ताल्लुक है, टालस्टाय ने यह प्रतिपादित किया है कि ज़मीन पर व्यक्ति का अधिकार होना एक भीषण अन्याय है। ज़मीन मनुष्य की आजीविका का मुख्य साधन है और उसको कुछ लोग हड़प करलें तो यह स्वाभाविक ही है कि आम लोग भूखों मरेंगे और गुलाम बन जाने के लिए विवश होंगे। इसलिए टालस्टाय ने यह सुझाया है कि ज़मीन का इस प्रकार विभाजन किया जाना चाहिए कि हर वह व्यक्ति जो उसके द्वारा आजीविका प्राप्त करना चाहे, जमीन का आवश्यक भाग प्राप्त कर सके। यदि ज़मीन का यह प्रश्न हल हो जाय तो हमारे युग का एक बड़ा प्रश्न हल हो जाय, इसमें कोई शक नहीं। भारत जैसे कृषिजीवी देश के लिए उसका महत्व और भी अधिक है।

पाठक इन निबन्धों में यह भी देखें कि महर्षि टालस्टाय की विचार धारा महात्मा गाँधी की विचारधारा से कितनी मिलती-जुलती है? टालस्टा· वर्तमान अवस्था को बदलने के लिए हिंसात्मक उपायों का अवलम्ब·

करने की सलाह नहीं देते। वे राज्य सत्ता को भी हिंसा का ही प्रतीक मानते हैं; अतः वे ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जिसमें सत्ता जैसी कोई वस्तु न होगी और मनुष्य अपने लिए नहीं बल्कि सबके कल्याण की भावना से प्रेरित होकर काम करेंगे। दूसरे शब्दों में टालस्टाय को हम अराजकतावादी कह सकते हैं, इस अन्तर के साथ कि वे अराजकतावादियों की भांति हिंसात्मक उपायों के उपासक नहीं। अन्याय और उत्पीड़न को रोकने का टालस्टाय ने एक ही मार्ग बताया है और वह यह कि अन्याय और अत्याचार का शिकार, उत्पीड़ित जन समाज अन्याय-अत्याचार का साझीदार न बने। बहुधा मनुष्य अपनी आपत्तियों का स्वयं ही कारण हुआ करता है। अतः टालस्टाय कहते हैं कि मनुष्य को अपने पाँवों पर खुद ही कुल्हाड़ी मारने का यह कार्य बन्द करना चाहिए।

जो लोग मानव समाज के लिए नवीन संगठन क़ायम करना चाहते हैं, उनकी बात टालस्टाय को ज्यादा अपील नहीं करती। उनकी यह मान्यता अवश्य सही प्रतीत होती है कि जब तक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का हृदय परिवर्तन नहीं होता, कितना भी आदर्श समाज-संगठन क्यों न कायम किया जाय, अन्ततोगत्वा ग़लत हाथों में पड़ कर वह पुनः भ्रष्ट हो जायगा। इसलिए टालस्टाय कहते हैं कि मनुष्य दूसरों को सुधारने की चिन्ता छोड़ कर पहले खुद को सुधारने की चिन्ता करे। इसमें कोई शक नहीं कि किसी रोग के लिए बाह्य उपचारों की अपेक्षा भीतरी उपचार अधिक कारगर होता है। किन्तु साथ ही हम बाह्य उपचारों की भी उपेक्षा तो नहीं कर सकते। मनुष्य को भीतर से अच्छा बनने की प्रेरणा मिले, इसके लिए हमको अनुकूल वातावरण सुलभ करना होगा, उसके मार्ग की उन बाधाओं को हटाना पडेगा, जो आज के इस विषम संसार में पग-पग पर उसका सामना करती हैं।

आशा है महर्षि टालस्टाय के इन निबन्धों में पाठकों को विचार और चिन्तन की प्रचुर सामग्री मिलेगी और यदि उन्होंने अपने जीवन को स्वार्थ की ओर से मोड़ कर सर्व-हित में लगा दिया तो वे भावी आदर्श समाज की नींव डालेंगे और अपना तथा जगत दोनों का साथ-साथ कल्याण कर सकेंगे।

नई दिल्ली
गांधी जयन्ती, १९४५

शोभालाल गुप्त

मालिक और मज़दूर

: १ :

मानव समाज में शोषण

सारा मानव समाज पशुओं के उस झुण्ड के समान है, जिसमें बैल, गाय और बछड़े सभी हैं, और जो तारों से घिरे बाड़े में बन्द है। बाड़े के बाहर सुन्दर हरा-भरा चरागाह है और खाद्य-सामग्री की बहुतायत है। बाड़े के भीतर पशुओं के लिए खाने को काफी घास नहीं है। फलस्वरूप बाड़े में जो भी घास है उसको पाने के लिए वे पशु एक दूसरे पर हमला कर रहे हैं और एक दूसरे को पैरों तले कुचल रहे हैं। पशुओं का मालिक भला और सदाशयी व्यक्ति है। उसे पशुओं की हालत देखकर बड़ा रंज होता है। वह सोचने लगता है कि पशुओं की हालत किस प्रकार सुधारी जाय। सोचते-सोचते उसने गायों के रात के विश्राम के लिए हवा और नालीदार सुन्दर छप्पर बंधवा दिये। उसने उनके सींगों के सिरे मंढ़वा दिये ताकि वे जिन्दगी की लड़ाई में अपने सींगों का उतनी भयंकरता से प्रयोग न करें। उसने बूढ़े बैलों और गायों के लिए उस बाड़े के भीतर एक और हद-बन्दी बनादी, ताकि वे अपने बुढ़ापे में जिन्दगी की लड़ाई से बच जायं और घास के लिए निश्चिंत हो जायं। चूंकि बछड़ों को मारा जा रहा था; वे भूख से भी मर रहे थे और उपयोगी पशु न बन पाते थे, इसलिए उसने ऐसी व्यवस्था कर दी कि उन्हें रोज सवेरे थोड़ा दूध पीने के लिए मिल जाया करे। इस प्रकार, यद्यपि सब बछड़ों को काफी पोषण न भी मिलता था तो भी उन्हें इतना जरूर मिल जाता था कि वे जीवित रह सकते थे। मतलब यह कि पशुओं के स्वामी ने उनकी हालत सुधारने के लिए यथा-शक्ति प्रयत्न किया। किन्तु जब मैंने पशुओं

के मालिक से पूछा कि आप यह सीधी-सी बात क्यों नहीं करते कि बाड़े की हद-बन्दी तोड़ कर पशुओं को बाहर निकाल दें; तो उसका उत्तर यह था कि यदि मैं ऐसा करूं तो फिर मुझे उनके दूध से जो हाथ धो लेना पड़ेगा।

: २ :

काम का बंटवारा

मनुष्य जिस मकान में रहता है, वह अपने आप नहीं बन जाता, उसके चूल्हे में जो ईंधन काम आता है वह भी वहां अपने आप नहीं पहुंचता, न पानी अपने-आप आता है और न रोटी आकाश से टपक पड़ती है। उसका भोजन, उसके कपड़े, उसके जूते आदि तमाम चीजों को पुराने जमाने के लोगों ने ही तैयार नहीं किया। आज भी उनको ऐसे आदमी तैयार कर रहे हैं जो सैकड़ों और हजारों की तादाद में मर रहे हैं। वे रात-दिन परिश्रम करते हैं, किन्तु उन्हें अपने और अपने बच्चों के लिए काफी भोजन-वस्त्र और रहने को स्थान नसीब नहीं होता।

सभी मनुष्यों को दरिद्रता से लड़ना पड़ता है। वे जीवन-संग्राम में इतने अधिक व्यस्त हैं, फिर भी उनके माता-पिता भाई-बहन और बाल-बच्चे मौत के घाट उतर रहे हैं। उनकी हालत उन आदमियों के समान है जो टूटे हुए अथवा अधडूबे जहाज में सवार हों और जिनके पास खाने-पीने का बहुत थोड़ा सामान बच रहा हो। उनको परमात्मा ने या प्रकृति ने ऐसी दशा में डाल दिया है कि अपनी जरूरतों के साथ बिना निरन्तर संघर्ष किये उनका काम नहीं चल सकता। यदि हम उनके इस काम में बाधा डालें अथवा दूसरों के परिश्रम का इस तरह उपभोग करें कि जिससे सर्वसाधारण को कोई लाभ नहीं पहुंच सकता, तो यह हमारे और उनके दोनों के लिए घातक सिद्ध होगा। तो फिर अधिकांश पढ़े-लिखे लोग क्यों खुद परिश्रम नहीं करते और चुप-चाप दूसरों की मेहनत हड़प लेते हैं जो उनके खुद के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक होती

है ? क्या वे ऐसे जीवन को सात्विक और उचित समझते हैं ?

यदि कोई मोची ऐसे जूते बनावे जिनकी लोगों को जरूरत न हो और फिर यह कहे कि लोगों को उसको खाने को देना चाहिए तो यह एक अजीब बात मालूम होगी। किन्तु हम उन सरकारी कर्मचारियों, धर्माधिकारियों, कलाविदों, विज्ञान-वेत्ताओं आदि के लिए क्या कहेंगे जो सर्वसाधारण के लिए कोई उपयोगी चीज पैदा नहीं करते और न जिनके काम की किसी को जरूरत है, किन्तु जो फिर भी 'काम के बंटवारे' के सिद्धान्त के नाम पर अच्छा खाना-पहनना मांगते हैं।

अवश्य ही काम का बंटवारा हमेशा से चला आया है, किन्तु वह ठीक तभी हो सकता है, जब हम विवेक और अन्तःकरण पूर्वक उसे करने का निर्णय करें। जो बंटवारा सब लोगों की बुद्धि और हृदय को मंजूर हो, वह सब से अच्छा बंटवारा होगा, आम लोग उसी बंटवारे को सही समझते हैं, जिसके अनुसार किसी मनुष्य के किसी खास काम को दूसरे इतना जरूरी समझें कि वे उसके बदले उस मनुष्य को राजी-खुशी से खाना और कपड़ा देने को तयार हो जायं। किन्तु जो मनुष्य बचपन से लगा कर तीस वर्ष की उम्र तक दूसरों की मेहनत पर जिन्दा रहता है और यह वादा करता है कि जब मैं अपनी पढ़ाई समाप्त कर लूंगा तो कोई बहुत उपयोगी काम करूंगा—हालांकि किसी ने उसको ऐसा करने को नहीं कहा होता—वह अपना शेष जीवन भी उसी प्रकार बिताता है और कहता रहता है कि मैं निकट भविष्य में कुछ-न-कुछ जरूर करूंगा, किन्तु यह सही बंटवारा नहीं हो सकता। यह तो बलवानों द्वारा दूसरों की मेहनत लेना हुआ। हड़प खाने की इस क्रिया को धर्मवादी "दैवी निर्णय" दार्शनिक "जीवन की अनिवार्य अवस्था" और आजकल का विज्ञान "काम का बंटवारा" कहते हैं।

काम का बंटवारा मानव समाज में हमेशा रहा है और आगे भी रहेगा, किन्तु सवाल यह है कि हम कैसी व्यवस्था करें कि जिससे यह बंटवारा ठीक-ठीक हो जाय।

लोग कहते हैं—कुछ मानसिक और आध्यात्मिक श्रम करते हैं और कुछ शारीरिक श्रम करते है; क्या यह काम का बंटवारा नहीं है ? उनको श्रम का यह बंटवारा बिल्कुल ठीक प्रतीत होता है, किन्तु है यह वास्तव में वही प्राचीन बलात्कार का नमूना।

"तुम मुझे भोजन दो, वस्त्र दो और मेरी सब तरह सेवा-चाकरी करो, क्योंकि तुम बचपन से ऐसा करने के अभ्यस्त हो और मैं तुम्हारे लिए वह मानसिक कार्य करूंगा जिसका मुझे अभ्यास है। तुम मुझे शारीरिक भोजन दो और मैं उसके बदले में तुम्हें आध्यात्मिक भोजन दूंगा।" यह कथन सही प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह सही तभी हो सकता है जब सेवाओं का यह आदान-प्रदान स्वेच्छापूर्वक हो; शरीर-श्रम करने वालों का आध्यात्मिक भोजन पाने से पहले ही अपनी सेवायें देने के लिए मजबूर न होना पड़ता हो। आध्यात्मिक भोजन देने वाला व्यक्ति कहता है—"मैं यह भोजन तभी दे सकता हूं जब तुम मुझको भोजन दो, वस्त्र दो, और मेरे घर का कूड़ा-कर्कट हटा कर ले जाओ।"

किन्तु शारीरिक भोजन सुलभ करने वाले व्यक्ति को अपनी ओर से बिना किसी प्रकार की मांग किये उपरोक्त काम करना पड़ता है। उसे आध्यात्मिक भोजन मिले या न मिले, शारीरिक भोजन देना ही होता है। यदि यह आदान-प्रदान स्वेच्छा-पूर्वक हो तो दोनों पक्षों के लिए उसकी शर्तें भी समान ही हों। यह सच है कि मनुष्य के लिए शारीरिक भोजन की भांति आध्यात्मिक भोजन भी आवश्यक होता है। विद्वान व्यक्ति अथवा कलाकार कहता है: "हम मनुष्यों की आध्यात्मिक भोजन द्वारा तभी सेवा कर सकते हैं, जब वे हमारे लिए शारीरिक भोजन सुलभ करें।" किन्तु शारीरिक भोजन देने वाला भी क्यों न कहे—"हम आपके लिए शारीरिक भोजन सुलभ करना शुरू करें, उसके पहले हमको आध्यात्मिक भोजन की जरूरत है; जब तक वह हमको न मिलेगा, हम शरीर-श्रम नहीं कर सकते।"

आप कहेंगे-"लोगों के लिए आध्यात्मिक भोजन तयार करने के

लिए हमको किसान, लुहार, मोची, बढ़ई, राज आदि के परिश्रम की जरूरत है।"

इसके जवाब में मजदूर भी यह कह सकता है–"मैं आपके लिए शारीरिक भोजन तैयार करने के लिए श्रम करूं, उसके पहले मुझे आध्यात्मिक भोजन चाहिए। मुझे श्रम करने की शक्ति प्राप्त हो, इसके लिए मुझे धार्मिक शिक्षा, समतावादी समाज व्यवस्था, श्रम के साथ बुद्धि के संयोग और कला के सुख और आनन्द की जरूरत है। मेरे पास समय नहीं है कि मैं जीवन के अर्थ के सम्बन्ध में शिक्षा-प्रणाली की खोज करूं। आप मेरे लिए उसकी व्यवस्था कीजिए।

"मेरे पास सामाजिक जीवन के विधि-विधान बनाने के लिए भी समय नहीं है, जिनसे कि न्याय की अवहेलना न हो। आप ही मेरे लिए उनका निर्माण कीजिए, मेरे पास यत्न विद्या, प्रकृति विद्या, रसायन विद्या आदि को अध्ययन करने का समय नहीं हैं। मुझे ऐसी पुस्तकें दीजिए, जिनके सहारे मैं अपने औजारों में, काम करने के तरीकों में, रहने के मकानों में और उनमें रोशनी और गर्मी की व्यवस्था करने आदि कामों में सुधार कर सकूं। मैं काव्य, चित्रकला और संगीत में भी अपने-आप को व्यस्त नहीं रख सकता। मुझे मनोरंजन और सुख की यह सब सामग्री दीजिए, जो जीवन के लिए आवश्यक है।"

आप कहेंगे कि यदि मजदूर-पेशा लोग आप के लिए जो श्रम करते हैं, वह न करें तो आप अपना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक काम नहीं कर सकते। इस के जवाब में मजदूर भी यह कह सकता है—"यदि मेरे विवेक और अन्तःकरण की जरूरतों के मुताबिक मुझे धार्मिक पथ-प्रदर्शन न मिले, सरकार मेरे लिए काम की गारन्टी न करे, मुझे अपने श्रम को हल्का करने का ज्ञान न मिले और मैं कला का आनन्द न लूट सकूं तो मैं हल जोतने, कूड़ा-कचरा ढोने और घरों की सफाई का अपना महत्त्वपूर्ण काम, जो आपके काम जितना ही आवश्यक है, नहीं कर सकूंगा। अब तक तो आपने आध्यात्मिक भोजन के रूप में जो कुछ उपस्थित किया

है, वह न केवल मेरे लिए बिल्कुल निरर्थक है, बल्कि मैं नहीं समझ सकता कि वह और किसी के भी कुछ उपयोगी हो सकता है। और जब तक मुझे वह पोषण नहीं मिलेगा जो दूसरों के समान मेरे लिए आवश्यक है, तब तक मैं आपके लिए शारीरिक भोजन पैदा नहीं कर सकता।"

यदि मजदूर ऐसा कहें तो क्या हो? और यदि यह ऐसा कहें तो यह हंसी की नहीं, बल्कि स्पष्ट न्याय की ही बात होगी। बौद्धिक परिश्रम करने वाले की अपेक्षा एक मजदूर का उक्त कथन कहीं ज्यादा ठीक होगा। कारण, बौद्धिक-श्रम करने वाले की अपेक्षा शरीर-श्रम करने वाले का काम ज्यादा जरूरी होता है। दूसरे बुद्धि के स्वामी को वादाशुदा आध्यात्मिक भोजन देने में कोई रुकावट नहीं हो सकती, जब कि मजदूर भोजन के अभाव में श्रम करने में असमर्थ होता है।

ऐसी दशा में यदि हमारे सामने उक्त प्रकार की सीधी-सादी और न्यायोचित मांग रखी जायँ, तो हम बौद्धिक-श्रम करने वाले व्यक्ति उसका क्या जवाब देंगे? हम उस मांग की किस प्रकार पूर्त्ति करेंगे? हम यह तक नहीं जानते कि मजदूरों की जरूरतें क्या हैं। हम तो उनके रहन-सहन के तरीकों, उनके विचारों और उनकी भाषा को भी भूल गए हैं। अज्ञान के वश होकर हमने अपना वह कर्त्तव्य भुला दिया है, जिसे हमने अपने सिर पर लिया था। हम यह भी भूल गये हैं कि हमारा श्रम किसलिए हो रहा है और जिन लोगों की सेवा करने का हमने निश्चय किया था, उन्हीं को हमने अपने वैज्ञानिक और कला-सम्बन्धी कार्यों का लक्ष्य बना लिया है। हम अपनी ही प्रसन्नता और आनन्द के लिए उनका अध्ययन करते हैं। हम यह बिल्कुल भूल गए हैं कि हमारा काम उनका अध्ययन और वर्णन करना नहीं, बल्कि, उनकी सेवा करना है।

अब हमको सावधान हो जाना चाहिए और गहराई के साथ आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। वस्तुतः हम उन पण्डे-पुजारियों के समान हैं,

नके हाथों में स्वर्ग की कुंजी तो है, लेकिन जो न तो खुद स्वर्ग में जाते और न दूसरों को जाने देते हैं। हम अपने ही भाइयों का जीवन दि कर रहे हैं और फिर भी अपने-आप को धर्मात्मा, दयालु, शिक्षित र पुण्यात्मा समझे हुए हैं।

: ३ :

एक भीषण अन्याय

जन साधारण जिस मुख्य अन्याय का शिकार है, वह राजनैतिक ारों द्वारा नहीं मिटाया जा सकता। वह अन्याय यह है कि जिस ज़मीन टुकड़े पर मनुष्य पैदा होता है, उसका वह इस्तेमाल नहीं कर सकता, तांकि कुदरती तौर पर उसको यह हक़ हासिल होना चाहिए। इस अन्याय जघन्यता और दुष्टता को समझने के लिए यह अनुभव करना ज़रूरी कि भूस्वामियों की ओर से निरन्तर होने वाला यह अत्याचार जब तक र न होगा, तब तक किसी भी राजनैतिक सुधार द्वारा जनता को ज़ादी नसीब नहीं हो सकती, उसका कल्याण नहीं हो सकता। जब ा-साधारण भूस्वामियों की गुलामी से मुक्त होंगे, तभी राजनैतिक सुधार ानीतिज्ञों के हाथों के खिलौने होने की बजाय लोगों की आकांक्षाओं के च्चे द्योतक होंगे। जो लोग अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति करना नहीं हते, बल्कि आम जनता की सच्ची सेवा करना चाहते हैं, उनके सामने इस निबंध में यही विचार पेश करना चाहता हूं।

आप देहातों की ओर निकल जाइये और चाहे किसी से बात करके व लीजिये। हरेक आपके सामने अपनी निर्धनता का रोना रोयेगा। गो के पास पेट भरने के लिए अन्न का अभाव है और इसकी वजह है कि उनके पास काफी जमीन नहीं है। भूमि से वंचित कर दिये ने के कारण देहातों में कितनी भयंकर तबाही मची हुई है, यह वहां ने पर खुद-ब-खुद नजर आ जाता है। सवाल यह है कि उनको और के परिवारों को ज़िन्दा कैसे रक्खा जाय। और इस सबकी वजह है

ज़मीन की समस्या। आप लोगों से उनकी दुरावस्था का कारण पूछिये और यह भी पूछिये कि उन्हें क्या चाहिए; तो उनकी ओर से एक ही जवाब मिलेगा। वे ऐसा सोचने के लिए विवश हैं, क्योंकि निर्वाह योग्य भूमि की कमी की मुख्य शिकायत के अलावा उन्हें महसूस करना पड़ता है कि वे भूस्वामियों और सेठ-साहूकारों के गुलाम हैं। उनपर इसलिए आये दिन जुर्माने होते हैं, वे पिटते और अपमानित होते हैं कि कभी उनके मवेशी निकटवर्ती भूस्वामी के बाड़े में चले जाते हैं या वे वहांसे घास का बोझा अथवा लकड़ी का गट्ठर जिसके बिना वे ज़िन्दा नहीं रह सकते, उठा लाते हैं। अतः आम लोगों की दृष्टि से भूमि का सवाल सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनके आगे यह बिल्कुल स्पष्ट है कि कृषि पर निर्भर रहने वाली आबादी, जिसकी तादाद बढ़ती रहती है, उस अवस्था में जिन्दा नहीं रह सकती जब कि उसके पास बहुत थोड़ी जमीन हो, और उसे अपने अलावा उन तमाम परोपजीवियों का भरण-पोषण करना पड़ता हो, जो उसके साथ नत्थी हैं और उसके चारों ओर रेंगते रहते हैं।

हेनरी जार्ज ने अपने एक भाषण में कहा है—"मनुष्य क्या है? सबसे पहले वह एक जानवर है, ज़मीन का जानवर है जो ज़मीन के बिना जिन्दा नहीं रह सकता। मनुष्य जो कुछ पैदा करता है, वह ज़मीन से ही पैदा होता है। यदि हम गहराई से विचार करें तो हमको ज्ञात होगा कि तमाम उत्पादक श्रम तभी होता है जब जमीन को जोता बोया जाय, या जमीन से पैदा होने वाली सामग्री को, ऐसे रूप में परिवर्तित किया जाय कि उससे मनुष्य की आवश्यकताएं और इच्छाएं पूरी हो सकें! यही क्यों, खुद मनुष्य का शरीर भी पृथ्वी से ही पैदा होता है। हम पृथ्वी के बेटे हैं—ख़ाक से पैदा हुए, ख़ाक में मिल जायंगे। मनुष्य से आप वे सब चोजें ले लीजिये जो जमीन से निकली हों और फिर रह जायगा सिर्फ शरीर रहित आत्मा। इसलिए यदि आपका किसी ऐसी जमीन पर कब्जा हो, जिसपर दूसरे मनुष्य का जीवन निर्भर हो तो आप उस मनुष्य के

मालिक बन जायंगे और वह आपका गुलाम। जिस जमीन पर मेर जीवन निर्भर हो, उस जमीन का मालिक अपने पशुओं की भांति ह मुझको जीवन-दान दे सकता है या मार सकता है। हम गुलामी की प्रथ को खत्म करने की चर्चा करते हैं, पर हमने गुलामी को उठाया कहां है हमने केवल गुलामी के एक विकृत रूप को, दास-प्रथा को नष्ट किया है किन्तु हमको एक और गहरी और प्रच्छन्न गुलामी को, जो कहीं ज्याद घातक है, खत्म करना है। वह है औद्योगिक गुलामी, जिसमें आजाद के नाम पर मनुष्य को प्रायः गुलाम बना लिया जाता है।"

अपने इसी भाषण के दूसरे हिस्से में हेनरी जार्ज ने कहा है—"क्य आपने कभी इस बात की विचित्रता और बेहूदगी पर विचार किया है वि सारी सभ्य दुनिया में श्रमजीवी वर्ग सबसे दरिद्र वर्ग है?.........एव क्षण के लिए सोचिए, यदि कोई समझदार आदमी पहले-पहल इर दुनिया में आवे और आप उसको यह बतावें कि हम इस दुनिया में किर तरह से रहते हैं, और मकान, भोजन, कपड़े और हमारी जरूरत की अन्य चीजें किस प्रकार श्रम द्वारा पैदा होती हैं तो क्या वह यह खयाल न करेगा कि श्रमजीवी बढ़िया मकानों में रहते होंगे और श्रम के द्वारा ज भी उत्पादन होता है, उसका अधिकतर भाग उन्हें उपलब्ध होता होगा किन्तु चाहे आप उस व्यक्ति को लन्दन ले जाइये, चाहे पैरिस या न्यूयार्क वह यही देखेगा कि जिनको श्रमजीवी कहते हैं, वे सब से खराब घरों म रहते हैं।"

सब देशों में यही हाल है। आलसी लोग भव्य राजमहलों में रह हैं और श्रमजीवी अंधेरे और गन्दे घरों में।

हेनरी जार्ज आगे कहते हैं—"यह सब कितना विचित्र मामला है ज़रा सोचिए तो, हम सम्भवतः दरिद्रता को बुरा कहते हैं और यह उचि ही है कि हम ऐसा करें।......प्रकृति श्रम को और सिर्फ श्रम को दा देती है; किसी भी चीज को पैदा करने के लिए मानव-श्रम की पहले आवश्यकता होती है। जो मनुष्य ईमानदारी से और भली प्रकार मेहन

करता है वह धनवान होना चाहिए और जो ऐसा नहीं करता वह गरीब होना चाहिए। किन्तु हमने प्रकृति के क्रम को ऐसा बदल दिया है कि हम श्रम करने वालों को दरिद्र समझने लगे हैं।... इसका मुख्य कारण यह है कि हम श्रम करने वालों को मजबूर करते हैं कि वे उन लोगों को कुछ दें जो श्रम करने की इजाजत देते हैं। आप किसी से कोट, कुर्ता या मकान खरीदते हैं तो आप उन चीजों के विक्रेता को श्रम का उपहार देते हैं, ऐसी चीज का मूल्य देते हैं जो उसने पैदा की है या पैदा करने वाले से ली है। किन्तु जब आप किसी आदमी को जमीन के बदले कुछ देते हैं, तो आप उसको किस चीज का बदला देते हैं? आप उसको ऐसी चीज का बदला देते हैं जिसको किसी आदमी ने पैदा नहीं किया, जो मनुष्य के पैदा होने से पहले भी थी अथवा जिसका मूल्य उसने व्यक्तिगत रूप से स्थापित नहीं किया, बल्कि उस समाज ने किया जिसके आप भी अंग हैं।

यही कारण है कि जिसने जमीन हस्तगत कर ली और उस पर कब्जा जमा लिया, वह धनवान है और जो ज़मीन को जोतता—बोता है या जमीन की पैदावार से चीजें बनाता है, गरीब है।

हम आवश्यकता से अधिक उत्पत्ति का रोना रोते हैं, किन्तु जब लोगों की जरूरतें ही पूरी नहीं होती, तब आवश्यकता से अधिक उत्पत्ति का सवाल ही कहां पैदा होता है? जिन चीजों के लिए यह कहा जाता है कि वे आवश्यकता से अधिक पैदा हुई हैं, उनकी बहुत लोगों को ज़रूरत रहती है। यह चीजें उनको क्यों नहीं मिलतीं? इसलिए कि उनको खरीदने के लिए उनके पास साधन नहीं हैं, यह बात नहीं है कि उनको उन चीजों की जरूरत ही न हो। और उनके पास उन चीजों को खरीदने के साधन क्यों नहीं है? वे बहुत थोड़ा कमाते हैं। जब लोगों की औसत आमदनी एक या डेढ़ आना रोज हो, तो ज्यादा मात्रा में चीजें नहीं बेची जा सकतीं।

तो मनुष्य इतनी कम मज़दूरी पर काम करने के लिए क्यों विवश

होते हैं ? इसलिए कि यदि वे ज्यादा मजदूरी मांगें तो ऐसे बेकार लोगों की बहुतायत है जो उनकी जगह काम करने को तैयार हो जायंगे। बेकारों की इस भीड़ की वजह से ही ऐसी तीव्र प्रतिस्पर्द्धा होती है कि मजदूरी की दर घट कर अल्पतम रह गई है। क्या कारण है कि लोगों को काम नहीं मिलता ? क्या आपने विचार किया है कि लोगों का काम न पा सकना कितनी अजीब बात है ? आदम को—प्रारम्भिक पुरुष को काम पाने में कोई मुश्किल न हुई और न राबिन्सन क्रूसो को हुई। काम तलाश करने का उनके सामने सवाल ही न था।

यदि मनुष्यों को काम देने वाला न मिले, तो वे अपने-आप काम पर क्यों नहीं लग जाते ? सिर्फ इसलिए कि उनको उस तत्व से वंचित कर दिया गया है, जिस पर कि मानव-श्रम किया जा सकता है। मनुष्यों को मजदूरी पाने के लिए एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ती है, क्योंकि उनको अपने-आपको काम में लगाने के प्राकृतिक साधनों से वंचित कर दिया गया है, उनको ईश्वर के राज्य में कोई ऐसा ज़मीन का टुकड़ा नहीं मिल सकता कि जिसको वे उपयोग में ला सकें और उसके बदले उन्हें दूसरे आदमी को कुछ न देना पड़े।

'मनुष्य परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि उनकी ग़रीबी का अन्त हो, किन्तु दरिद्रता ईश्वरी-नियमों की वजह से पैदा नहीं होती, ऐसा कहना घोर नास्तिकता है। उसका जन्म होता है उस अन्याय में से, जो एक मनुष्य दूसरे मनुष्यों के साथ करता है। कल्पना कीजिए, यदि परमात्मा आपकी प्रार्थना सुनले तो वह उसको पूरा किस प्रकार करेगा, ज़ब तक कि वह अपने नियमों में परिवर्तन नहीं करता। सोचिए—परमात्मा हमको ऐसी कोई वस्तु नहीं देता जिसकी गणना हम दौलत में करते हैं। वह हमको केवल कच्चा माल देता है; दौलत पैदा करने के लिए मनुष्य को उसका उपयोग करना पड़ता है। क्या वह हमको कच्चा माल काफी मात्रा में नहीं दे रहा। और वह हमको ज्यादा मात्रा में भी देने लगे तो वह दरिद्रता का अन्त कैसे करेगा ? कल्पना कीजिए, हमारी प्रार्थनाओं

के जवाब में वह सूर्य की शक्ति को या धरती के गुणों को बढ़ादे, वह पौधों में ज्यादा पैदावार की शक्ति भर दे या पशुओं को ज्यादा तादाद में अपनी सन्तान बढ़ाने के लिए समर्थ बना दे, तो इसका लाभ किसको मिलेगा ? ऐसे देश को सामने रखकर उत्तर दीजिए जहां ज़मीन पर चन्द व्यक्तियों का एकाधिकार हो--अधिकांश सभ्य देशों में यही व्यवस्था है। सिर्फ भू-स्वामियों को। और यदि खुद परमात्मा भी हमारी प्रार्थना को सुनकर स्वर्ग से वह सब चीज़ें भेज दे जिनकी मनुष्यों को जरूरत है, तो उनका लाभ कौन उठावेगा ? भूस्वामी। वे उन सब चीजों पर अधिकार जमा लेंगे और जिन लोगों के पास ज़मीन न होगी, उनको काम करने के लिए मजबूर करेंगे। वे उन चीजों को बेचना शुरू कर देंगे, यहा तक कि भूमि-रहित लोगों को उन चीजों को खरीदने के लिए अपने बदन के कपड़े भी उतार देने पड़ेंगे। तब नतीजा यह होगा कि एक ओर वे भूखों मरने लगेंगे और दूसरी तरफ़ उन चीजों का ढेर लग जायगा और भूस्वामी शिकायत करने लगेंगे कि पैदावार आवश्यकता से बढ़ गई है।

मेरा कहने का यह आशय नहीं है कि इस मौलिक अन्याय को मिटा देने के बाद हमारे लिए कुछ करने-धरने को शेष नहीं रह जायगा। मैं जो कहना चाहता हूं वह तो यह है कि तमाम सामाजिक प्रश्नों के मूल में हमारी ज़मीन की व्यवस्था मुख्य है। मैं यह कहना चाहता हूं कि आप जो चाहे कीजिए, चाहे जैसा सुधार कीजिए, जो व्यापक-दरिद्रता फैली हुई है उसे आप तबतक नहीं मिटा सकते, जबतक कि आप उस तत्त्व को, जिस से मनुष्यों को जिन्दा रहना है, चन्द व्यक्तियों की निजी जायदाद बनी रहने देते हैं। सरकार का सुधार कीजिए, टैक्स घटा कर कम-से-कम कर दीजिए, रेल की सड़कें बनाइये, सहयोग समितिया खोलिए, मुनाफों को मालिकों और मज़दूरों में बांट दीजिए, पर इस सबका नतीजा क्या होगा ? यही कि जमीन की क़ीमत बढ़ जायगी। क्या तमाम सुधारों का यही नतीजा नहीं होता कि जमीन का मूल्य बढ़ जाता है—वह मूल्य, जो कुछ लोग जीने का अधिकार पाने के लिए दूसरों को देते हैं।

मनुष्य भक्षण, मानव बलिदान, धार्मिक व्यभिचार, कमजोर लड़के-लड़कियों की हत्या, खूनी प्रतिशोध, सारी की सारी बस्तियों का संहार, न्यायालयों का उत्पीड़न, अग्निदाह, कोड़े बाजी और गुलामी यह सब प्रथायें पहले रह चुकी हैं। किन्तु यदि हम इन भयंकर प्रथाओं और रिवाजों को पार कर चुके हैं, तो हमसे यह सिद्ध नहीं होता कि अब भी ऐसी प्रथायें और रिवाज जारी नहीं हैं जो जाग्रत विवेक और अन्तःकरण वालों के लिए उन पुरानी प्रथाओं के समान ही घृणास्पद हैं जिनकी कि दुःस्मृति-मात्र अब शेष रह गई है। मनुष्य की सफलता का मार्ग असीम है और हर ऐतिहासिक काल में ऐसे अन्धविश्वास, भ्रम और हानिकर रिवाज रहे हैं, जिनको मानव पीछे छोड़ जाता है और जो भूतकाल की चीजें हो चुकती हैं। कुछ कुप्रथाओं का सुदूर भविष्य के कुहरे में हमें दर्शन होता है, और कुछ वर्तमान काल में मौजूद होती हैं, जिनको मिटाना हमारी जिन्दगी का सवाल बन जाता है। इस युग की जिन प्रथाओं को हमें मिटाना है, उनमें मृत्यु और अन्य दण्डों तथा व्यभिचार, मांसाहार और सैनिकवाद का समावेश किया जा सकता है। इसी प्रकार जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार ऐसी कुप्रथा है, जिसे मिटाना भी उक्त बुराइयों की भांति ही जरूरी है। किन्तु लोग परम्परागत अन्यायों को एकदम या सहृदय लोगों द्वारा उनकी हानियां समझ लेने के बाद फौरन ही नहीं छोड़ देते। वे आगे बढ़ते हैं, रुकते हैं, पीछे हटते हैं और फिर आजादी की ओर लम्बी छलांग मारते हैं। हम इस क्रिया की प्रसव-वेदना से तुलना कर सकते हैं। भूमि पर से व्यक्तिगत अधिकार उठाने के सम्बन्ध में भी यही होगा।

भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की बुराई और अन्याय की ओर हजारों वर्ष पहले अवतारी पुरुषों ने ध्यान दिलाया है और योरोप के प्रगतिशील विचारक अक्सर इसकी बुराई को बताते आये हैं। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति में जिन्होंने प्रमुख भाग लिया था, उन्होंने खास तौर पर इसका बयान किया है। उसके बाद जनसंख्या में वृद्धि हो जाने और अधिकांश

अबाधित भूमि पर धनिकों के कब्जा जमा लेने तथा शिक्षा के विस्तार के कारण यह अन्याय इतना स्पष्ट हो गया है कि प्रगतिशील लोग ही नहीं, बहुत साधारण लोग भी उसको देखने और महसूस करने लगे हैं। किन्तु जो लोग जमीनों की मिल्कियत से लाभ उठाते हैं--खुद मालिक भी और वे भी जिनके स्वार्थ इस प्रथा के साथ बंध गये हैं—मौजूदा व्यवस्था के इतने आदी हो गये हैं और उससे इतने लम्बे अर्से तक लाभ उठा चुके हैं कि उन्हें इसका अन्याय मालूम ही नहीं होता और वे सत्य को अपने-आप से और दूसरों की नजरों से छिपाने की हर कोशिश करते हैं, दबाते हैं। सत्य अधिकाधिक स्पष्ट रूप में प्रकट हो रहा है, किन्तु वे उसे विकृत करने की कोशिश करते हैं, दबाते हैं और यदि इसमें उन्हें सफलता नहीं मिलती तो वे उसको चुप करने की कोशिश करते हैं।

गत शताब्दी के अखीर में इंग्लैण्ड में हेनरी जार्ज नाम के महापुरुष पैदा हुए थे। उन्हों ने भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की प्रथा के अन्याय और जुल्म को प्रकट करने और प्रचलित शासन प्रणालियों के अधीन उसको मिटाने के उपाय सुझाने के लिए भारी मानसिक श्रम किया। उन्हों ने अपने मन्तव्य को इस जोर और स्पष्टता के साथ प्रकट किया है कि कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति उससे सहमत हुए बिना न रहेगा। उसे स्वीकार करना पड़ेगा कि जब तक यह मौलिक अन्याय नहीं मिटाया जायगा, लोगों की अवस्था सन्तोषजनक न होगी और यह भी कि हेनरी जार्ज ने जो उपाय सुझाये हैं, वे युक्तिसंगत, न्यायपूर्ण और व्यावहारिक हैं। किन्तु हुआ क्या? खुद इंग्लैण्ड में और आयर्लैण्ड में भी, जहां कि भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार की बुराई नग्न-रूप में विद्यमान थी, अधिकांश प्रभावशाली और पढ़े-लिखे लोग हेनरी जार्ज की शिक्षाओं के विरुद्ध हो गये। जिन लोगों ने पहले सहमति प्रकट की वे भी बाद में खिलाफ हो गये। इस प्रकार जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत की प्रथा की रक्षा करने में जिनका स्वार्थ था, उनके सामूहिक प्रयत्न से हेनरी जार्ज की शिक्षायें अज्ञात बनी हुई हैं और ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, उनकी तरफ

और भी कम से कम ध्यान दिया जाता है। अधिकांश शिक्षित कहलाने वाले लोग उनको सिर्फ नाम से ही जानते हैं।

किन्तु ज़मीन निजी सम्पत्ति नहीं हो सकती, यह सत्य आधुनिक जीवन के वास्तविक अनुभवों से इतना स्पष्ट हो चुका है कि उस व्यवस्था को, जिसमें ज़मीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व स्वीकार किया जाता है, कायम रखने का एक ही मार्ग है और वह यह कि उसके बारे में सोचा ही न जाय, सत्य की अवहेलना की जाय और अन्य ध्यान बंटाने वाले मामलों में अपने-आप को व्यस्त रखा जाय। आज के सभ्य देशों में यही किया जा रहा है।

योरोप और अमेरिका में राजनैतिक कार्यकर्ता लोगों की भलाई के लिए हर किस्म के कामों की ओर ध्यान देते हैं। आयात-निर्यात कर, उपनिवेश, आय-कर, फौजी और समुद्री बजट, समाजवादी असेम्बलियां, संघ और महा संघ, सभापतियों के निर्वाचन, कूटनीतिक सम्बन्ध आदि ऐसे विषय हैं, जिन पर उनका ध्यान लगा रहता है। सिर्फ एक ही विषय ऐसा है जिसको वे नहीं छूते और वह यह है कि तमाम मनुष्यों का जमीन का उपयोग करने का जो अधिकार छिन गया है, उसको पुनः कायम किया जाय। बिना इसके लोगों की हालत नहीं सुधर सकती। यद्यपि राजनैतिक कार्यकर्ता यह महसूस किये बिना नहीं रह सकते कि औद्योगिक और सैनिक झगड़ों में वे जो कुछ कर रहे हैं, उससे राष्ट्रों की शक्ति का ह्रास ही होने वाला है। फिर भी वे आगे की बात पर विचार नहीं करते और तात्कालिक जरूरतों के आगे सिर झुका देते हैं। वे ऐसे चक्कर में फंसे हुए हैं कि जिससे बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं है और मानो वे अपने-आपको उस जादू भरे तिलस्म में भुला बैठे हैं।

योरोप और अमेरिका के राजनैतिक कार्यकर्ताओं का यह क्षणिक अज्ञान दयाजनक है। किन्तु इसका कारण यह है कि इन महाद्वीपों के लोग ग़लत रास्ते पर इतनी दूर जा चुके हैं कि उनमें से अधिकांश ज़मीन से जुदा हो चुके हैं; वे अपनी आजीविका या तो कारखानों में या खेतों

पर मज़दूरी करके कमाते हैं। इसलिए यह समझा जा सकता है कि योरोप और अमेरिका के राजनीतिज्ञों को लोगों की अवस्था सुधारने के लिए आयात-निर्यात कर, उपनिवेश और कम्पनियों का निर्माण आदि मुख्य जरिये प्रतीत होते हैं। किन्तु जिन देशों में अस्सी-नव्वे प्रतिशत आबादी खेती पर निर्भर करती हो और जहां लोग एक ही बात की मांग करते हों, कि उन्हें खेती करने का मौका दिया जाय, वहां स्पष्टतः और ही किसी चीज़ की ज़रूरत है। योरोप और अमेरिका के लोगों की हालत उस मनुष्य जैसी है, जो एक रास्ते पर बहुत दूर निकल चुका है। शुरू में उसने उस रास्ते को सही समझा था। अब यद्यपि वह ज्यों-ज्यों, आगे बढ़ता है, अपने लक्ष्य से दूर हटता जाता है, फिर भी उसे अपनी भूल स्वीकार करने में भय मालूम होता है। किन्तु जो देश चौराहे पर खड़े हैं, उन्हें तो सीधा रास्ता पकड़ना चाहिए।

लोगों की भलाई का दम भरने वाले क्या कहते हैं? वे दावा करते हैं कि समाचार पत्रों को स्वाधीनता दी जाय, धार्मिक-सहिष्णुता बरती जाय, श्रमजीवी संघों को आज़ादी दी जाय, आयात-निर्यात-कर लगाये जायं, सशर्त दण्ड दिये जायं, धर्म संस्थाओं को राज्य संस्था से जुदा किया जाय, श्रम के साधनों को भविष्य में राष्ट्र की सम्पत्ति बनाया जाय, सहयोग संस्थायें खोली जायं, और सब से पहले प्रतिनिधि शासन कायम किया जाय, जैसा कि योरोप और अमेरिका के देशों में एक अर्से से कायम है। किन्तु यह प्रतिनिधि शासन आज तक न तो सब रोगों की रामबाण दवा भूमि-समस्या को हल कर सका है और न उसको ठीक रूप में ही सामने रख सका है।

लोगों ने गायों के एक झुंड को बाड़े में बन्द कर दिया है। उनके दूध पर वे जीवित रहते हैं। गायों ने बाड़े में जो भी घास था, उसको खा डाला है या पैरों तले रौंद डाला है। वे भूखों मरती हैं और उन्होंने एक दूसरे की पूंछों को भी चबा डाला है। वे बाड़े से बाहर निकल कर आगे चरागाह में जाने की जी तोड़ कोशिश कर रही हैं। किन्तु जो लोग

इन गायों के दूध पर जिन्दा रहते हैं, उन्होंने बाड़े के चारों ओर खेतों में रंग और तम्बाकू के पौधे लगा दिये हैं। उन्होंने फूलों की क्यारियां लगाई हैं, घुड़-दौड़ का मैदान बनाया है, बग़ीचा लगाया है और टेनिस खेलने का चौक बनाया है। कहीं गायें इन चीजों को खराब न कर दें, इसलिए वे उन्हें बाड़े से बाहर नहीं निकलने देते, किन्तु गायें रांभती हैं और दुबली हो रही हैं। लोगों को डर पैदा हो गया है कि उन्हें दूध मिलना बन्द हो जायगा। इसलिए वे गायों की दशा सुधारने के लिए तरह-तरह के उपाय करते हैं। वे उनके लिए छप्पर डलवाते हैं, गीले ब्रश से गायों के बदन को रगड़वाते हैं, सींगों को सोने से मढ़वाते है और दूध निकालने के समय को बदलते हैं। वे बूढ़ी और बीमार गायों की देख-रेख और चिकित्सा की चिन्ता करते हैं, वे दूध निकालने के नये और सुधरे हुए तरीकों का आविष्कार करते हैं और आशा करते हैं कि बाड़े में उन्होंने एक खास किस्म का जो असाधारण पोषक घास लगाया है, वह खूब उगेगा। वे इन और दूसरी अनेक बातों के बारे में चर्चा करते हैं, किन्तु वह बात नहीं करते जो खुद उनके और गायों के लिए हितावह है कि बाड़े की दीवारों को तोड़ डालें और गायों को आज़ाद कर दें, ताकि वे अपने चारों ओर फैले हुए विस्तृत चरागाहों का आनन्द लूट सकें।

लोगों का यह व्यवहार युक्ति-संगत नहीं है। किन्तु उसका एक कारण है। बाड़े के चारों ओर उन्हांने जो चीजें खड़ी की हैं, उनका मोह वे नहीं छोड़ सकते। किन्तु उन लोगों के लिए क्या कहा जाय, जिन्होंने अपने बाड़े के चारों ओर कुछ नहीं लगाया है, किन्तु फिर भी प्रथम श्रेणी के लोगों की नक़ल करके अपनी गायों को बाड़े में बन्द रखते हैं और दावा यह करते हैं कि वे ऐसा गायों के हित के लिए करते हैं। किन्तु हम यही कर रहे हैं। हम उन लोगों के लिए जो ज़मीन के अभाव से निरन्तर पीड़ित हैं, हर किस्म की पश्चिमी संस्थाओं की व्यवस्था करते है, पर मुख्य बात को भूल जाते हैं जिसकी लोगों को खास ज़रूरत है। वह यह कि जमीन पर से व्यक्तिगत स्वामित्व का खात्मा किया जाय

और उस पर हरेक का समान अधिकार क़ायम किया जाय।

यह समझ में आने योग्य बात है कि योरोप के जो लोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अपने ही देशवासियों के श्रम पर जीवन-निर्वाह नहीं करते, किन्तु जिनकी रोटी कारखानों के माल के बदले में उपनिवेशों के मज़दूर कमाते हैं और जो उन्हें खिलाने और पोषण करने वाले मजदूरों की मेहनत और पीड़ा को नहीं देखते, वे भावी समाजवादी संगठन का ढांचा खड़ा कर सकते हैं, जिसके लिए कि वे मानव-समाज को तयार करने का दावा करते हैं और शान्त चित्त से चुनाव आन्दोलनों, दलगत संघर्षों, धारा सभाओं के वाद विवादों, मंत्रिमंडलों की स्थापना और उत्थापना और समय गुजारने के अन्य विविध कार्यों में, जिन्हें वे विज्ञान और कला का नाम देते हैं, व्यस्त रहते हैं।

योरोप के इन परोपजीवियों का पोषण करने वाले असली लोग हिन्दुस्तान, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के वे मज़दूर हैं जिन्हें वे नहीं देख पाते। किन्तु जिन देशों के पास कोई उपनिवेश नहीं हैं और जहां लोगों को अपनी रोटी कमाने के लिए घोर कष्ट सहना पड़ता है, वहां हम अपनी अन्यायपूर्ण अवस्था का बोझ दूरवर्ती उपनिवेशों पर नहीं डाल सकते। हमारा पाप सदा हमारी आंखों के सामने रहता है। जो लोग हमारा पोषण करते हैं, हम उनकी जरूरतों को नहीं समझते। हम न उनकी पुकार सुनते हैं और न उसका कोई उत्तर ही देने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत हम उनकी सेवा करने के नाम पर योरोपीय ढंग पर समाजवादी संगठन कायम करने की तैयारी करते हैं और इस बीच ऐसे कामों में समय गंवाते हैं कि जिन से हमारा मनोरंजन हो और ध्यान बंटा रहे। हम दावा तो यह करते हैं कि हमारा उद्देश्य लोगों की भलाई करना है, किन्तु हम कर यह रहे हैं कि लोगों के रक्त की अन्तिम बूंद भी चूस लेते हैं, ताकि वे हम परोपजीवों का पोषण कर सकें।

लोगों की भलाई के लिए हम पुस्तकों पर से प्रतिबन्ध हटवाने, स्वेच्छाचारितापूर्ण निर्वासनों को रद्द करवाने, सब जगह प्राथमिक और

कृषि स्कूल खुलवाने, अस्पतालों की संख्या बढ़वाने, टैक्सों की बकाया माफ करवाने, कारखानों की कड़ी देख भाल करवाने और घायल मजदूरों को मुआवजा दिलवाने, जमीन की पैमायश करवाने, जमीन खरीदने के लिए कृषि-बैंकों से किसानों को सहायता दिलवाने आदि कामों की कोशिश करते हैं।

पर एक बार कल्पना कीजिए लाखों लोगों के सतत कष्टों की ! वृद्ध स्त्री-पुरुष और बच्चे अभाव के मारे मर रहे हैं। शक्ति से अधिक काम करने और पर्याप्त भोजन न मिलने के कारण मरने वालों की संख्या कम नहीं है। कल्पना कीजिए कि जमीन के अभाव में देहात के लोगों को किस कदर गुलामी और अपमानों का शिकार होना पड़ रहा है, उनकी शक्ति का दुरुपयोग हो रहा है और उन्हें अनावश्यक मुसीबतें झेलनी पड़ रही हैं। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि यदि लोगों की सेवा का नाम लेनेवालों के सब उद्योग सफल हो जायं तो भी वह सागर में एक बिंदु के बराबर ही होगा।

लोगों की भलाई का दम भरने वाले लोगों में कुछ ऐसे भी हैं, जो गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से महत्व-हीन परिवर्तनों की योजना करते हैं। और इस बात की तनिक भी परवाह नहीं करते कि लाखों मजदूर जमीन पर भूस्वामियों के कब्जा जमा लेने के कारण गुलामी में सड़ रहे हैं। इतना ही नहीं, उनमें से कुछ आगे बढ़े-चढ़े सुधारक यह पसंद करेंगे कि लोगों की मुसीबतें और बढ़ जायं ताकि अपने पुराने देहाती जीवन के बदले कारखानों का सुधरा हुआ जीवन ग्रहण करने के लिए विवश होना पड़े। ऐसे लोगों की विचार-हीनता आश्चर्यजनक है। वे अपने दिमाग से कुछ सोच नहीं सकते बल्कि पश्चिम का अन्धानुकरण करना चाहते हैं। उनके हृदय की कठोरता और निर्दयता और भी आश्चर्यजनक है।

एक समय था जब परमात्मा के नाम पर मनुष्यों को लाखों की तादाद में मारा गया, सताया गया, फांसी पर लटकाया गया, और कत्ल

किया गया। अब हम अपने बड़प्पन के अभिमान में उन कामों को करने वालों को घृणा की नजर से देखते हैं। किन्तु हम गलती पर हैं। वैसे लोग आज भी हमारे बीच में मौजूद हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि पुराने जमाने के लोगों ने यह काम परमात्मा और उसकी सच्ची सेवा के नाम पर किये, और अब लोगों के नाम पर और उनकी सच्ची सेवा के लिए किये जाते हैं। पुराने लोगों में कुछ ऐसे भी थे जो ख्वाहम-ख्वाह और दृढ़तापूर्वक विश्वास करते थे कि उन्हें सत्य का ज्ञान है। उनमें कुछ कुछ ऐसे भी थे जो दम्भी थे और परमात्मा की सेवा करने के बहाने अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे थे। जनता उन्हीं का अनुसरण करती थी जो सब से अधिक साहसी होते थे। अब जो लोग जनता की सेवा के नाम पर बुरा कर रहे हैं, उनमें भी ऐसे आदमी हैं जो कहते हैं कि सिर्फ उनको ही सत्य का पता है। उन्हें मालूम है कि कौन दम्भी है और जनता क्या चाहती है। परमात्मा की सेवा के ठेकेदारों ने धर्म के नाम पर अनर्थ किया, किन्तु जनता के सेवकों ने अपने वैज्ञानिक सिद्धान्त के नाम पर यदि कम हानि की है तो इसका कारण यह है कि उन्हें अभी काफी समय नहीं मिला। किन्तु उनके सिर पर लोगों में कटुता और फूट फैलाने का बोझ तो लद चुका है। दोनों प्रकार की हलचलों की विशेषताएं एक-सी हैं। पहले तो परमात्मा के और जनता के इन सेवकों में से अधिकांश का जीवन संयमहीन और खराब है। उन्हें अपने पद का इतना अभिमान है कि वे संयम की आवश्यकता ही नहीं समझते। दूसरी विशेषता यह है कि जिनकी वे सेवा करना चाहते हैं, उनके प्रति उनकी कोई दिलचस्पी, झुकाव या प्रेम नहीं है। दर असल पुराने धर्म-ध्वजियों को न परमात्मा से प्रेम था और न वे उसके साथ एकात्म्य स्थापित करना चाहते थे। वे न तो परमात्मा को जानते थे और न जानना चाहते थे। यही हाल बहुत से जन-सेवकों का है। उनके लिए जनता की हैसियत एक पताका से अधिक नहीं। जनता से प्रेम करना या मिलना-जुलना तो दूर रहा, वे उसे जानते ही नहीं। वे तो उसको घृणा,

उपेक्षा और भय की दृष्टि से देखते हैं। उनकी तीसरी विशेषता यह है कि यद्यपि वे एक ही परमात्मा अथवा एक ही जनता की सेवा में लगे हुए हैं, किन्तु उनमें न केवल सेवा के साधनों के सम्बन्ध में ही मत भेद है, बल्कि जो लोग उनसे सहमत नहीं होते, उनके कामों को वे ग़लत और हानिकारक समझते हैं और उनको दबाने की पुकार मचाते हैं। फलस्वरूप पुराने जमाने में लोग जिन्दा जला दिये जाते थे और सैकड़ों की तादाद में एक साथ मौत के घाट उतार दिये जाते थे और अब फांसी, कैद और हत्याओं का ज़ोर है। और आख़िरी, किन्तु मुख्य विशेषता दोनों की यह है कि वे यह बिल्कुल नहीं जानते कि जिनकी वे सेवा करना चाहते हैं, उनकी मंशा क्या है। परमात्मा ने प्रत्यक्ष और स्पष्टरूप में बताया है कि मनुष्य अपने पड़ौसियों से प्रेम करके और दूसरों के प्रति वैसा व्यवहार करके जैसा कि वे दूसरों से अपने लिए अपेक्षा करते हैं, उसकी सेवा करें। किन्तु उन्होंने परमात्मा की सेवा का यह तरीका नहीं अपनाया। वे तो बिल्कुल दूसरी ही बात चाहते हैं जो उन्होंने अपने दिमाग़ से पैदा की है और उसी को परमात्मा का आदेश बताते हैं। जनता के सेवक भी ऐसा ही करते हैं। लोग क्या करते और चाहते हैं, इसका उन्हें कुछ पता ही नहीं। वे लोगों की सेवा के लिए ऐसा काम करते हैं, जिसकी लोगों को न तो इच्छा ही होती है और न कल्पना ही। वे अपने ही रास्ते से लोगों की सेवा करते हैं, किन्तु वह काम करने की कोशिश नहीं करते जिसको लोग बराबर चाहते रहते हैं।

समाज-व्यवस्था में सभी जगह एक परिवर्तन निहायत ज़रूरी है। उसके बिना मनुष्य जीवन में एक कदम आगे नहीं बढ़ सकता। इस परिवर्तन की आवश्यकता हर वह आदमी समझता है जो पूर्वाग्रह का शिकार नहीं है। वह किसी एक देश का नहीं, बल्कि सारी दुनिया का सवाल है। मनुष्य जाति के इस युग के तमाम कष्टों का उसके साथ सम्बन्ध है। जो लोग मजदूरी पर खेती का काम करते हैं, उनमें से अधिकांश जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत को स्वीकार नहीं करते। वे

इस प्राचीन बुराई को मिटाने की मांग करते रहते हैं।

किन्तु इस ओर किसी का ध्यान नहीं है। इस उल्टी गंगा का कारण क्या है? जो लोग भले, दयालु और समझदार हैं—सरकारी और ग़ैर-सरकारी सभी वर्गों में ऐसे लोग होते हैं—और जो लोगों का हित चाहते हैं, वे लोगों की एकमात्र जरूरत को क्यों नहीं समझते, जिसके लिए कि वे निरन्तर कोशिश करते रहते हैं और जिसके अभाव में वे बराबर कष्ट उठाते हैं। इसके बजाय वे बहुत-सी ऐसी बातों पर क्यों शक्ति खर्च करते हैं, जिनसे लोगों का तब तक कोई भला नहीं हो सकता, जब तक कि लोग जिस बात को चाहते हैं, वह पूरी नहीं हो जाती? सरकारी और ग़ैर-सरकारी दोनों ही किस्म की जनता के इन सेवकों का हाल उस व्यक्ति के समान है जो कीचड़ में फंसे हुए घोड़े की सहायता तो करना चाहता है, किन्तु गाड़ी में बैठा रहता है और बोझ को एक जगह से उठाकर दूसरी जगह धरता है तथा समझता है कि मैं घोड़े की हालत को सुधार रहा हूं। ऐसा क्यों? हमारे जमाने के लोग, जो अच्छी तरह और सुख-पूर्वक रह सकते हैं, बुरी तरह और कष्ट-पूर्वक क्यों जी रहे हैं?

इसका कारण यह है कि हम लोगों में धार्मिक-भावना का अभाव है। धर्म के बिना मनुष्य न्यायोचित जीवन नहीं बिता सकता। और दूसरों के लिए क्या अच्छा और क्या बुरा है, क्या आवश्यक और क्या अनावश्यक है यह तो वह और भी कम जान सकता है। यही कारण है कि ज़माने के जन-सेवक लोगों के जीवन और जरूरतों को इतना ग़लत समझे हुए हैं। उनके लिए बहुत-सी बातें चाहते हैं, किन्तु उस बात को भूले हुए हैं जिसकी कि उन्हें ज़रूरत है।

धर्म के बिना मनुष्यों को वस्तुतः प्रेम नहीं किया जा सकता। और बिना प्रेम के यह नहीं जाना जा सकता कि लोगों को क्या चाहिए, कम चाहिए या अधिक चाहिए। जो धार्मिक-वृत्ति के नहीं है और इसलिए वस्तुतः प्रेम नहीं करते, वही लोगों की पीड़ा के मुख्य कारण को भुलाकर नगण्य और महत्त्वहीन सुधारों की ओर ध्यान दे सकते हैं; जो लोगों की

मदद करना चाहते हैं, वही खुद एक हद तक उनके कष्ट के कारण बन जाते हैं। ऐसे ही व्यक्ति लोगों के भावी सुख के सम्बन्ध में सूक्ष्म सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर सकते हैं। वे लोगों के वर्तमान कष्टों की ओर ध्यान न देंगे, जिनके तत्काल दूर होने की आवश्यकता है और जो दूर किये जा सकते हैं। यह तो वैसी ही बात हुई कि किसी ने एक भूखे आदमी से उसका भोजन छीन लिया और बाद में उसको उपदेश देने लगा कि भविष्य में वह भोजन कैसे पा सकेगा। वह यह जरूरी नहीं समझता कि उसने जो भोजन छीन लिया है, उसमें से भूखे को कुछ हिस्सा दे दे।

सौभाग्यवश महान लोक-कल्याणकारी आन्दोलन उन परोप-जीवियों के बल पर सफल नहीं हुआ करते, जो लोगों का रक्त चूस कर ज़िन्दा रहते हैं। ऐसे आन्दोलनों का श्रेय उन लगन वाले, सीधे और महान् धार्मिक पुरुषों को होता है, जो अपने स्वार्थ, अहंकार या महत्वाकांक्षा का ख्याल नहीं रखते और न बाहरी परिणामों की चिन्ता करते हैं। उन्हें तो परमात्मा के आगे अपने मानव-कर्त्तव्यों का हिसाब देना होता है।

ऐसे ही व्यक्ति अपने मूक और दृढ़ कार्यों द्वारा मनुष्य जाति को आगे ले जाते हैं। वे लोगों की अवस्था सुधारने के लिए इधर-उधर के काम करके दूसरों की निगाह में ऊंचा उठने की चेष्टा नहीं करते, बल्कि वे ईश्वरीय नियम और अपने अंतःकरण के अनुसार चलने की कोशिश करते हैं और इस प्रयास में स्वभावतः उनकी आंखों के सामने ईश्वरीय नियम की सब से बड़ी अवहेलना उपस्थित होती है और वे अपनी और दूसरों की मुक्ति के उपाय करते हैं।

इटली के महापुरुष मैज़िनी ने कहा है कि समाज-व्यवस्था में बड़े सुधार महान धार्मिक आन्दोलनों के द्वारा ही होते हैं। ज़मीन पर व्यक्ति-गत मिल्कियत रूपी पाप का अन्त भी धर्म-भावना जाग्रत होने पर ही होगा। इसका अन्त राजनैतिक सुधारों, समाजवादी व्यवस्थाओं अथवा

क्रान्ति द्वारा न होगा। दान की रक़मों से अथवा सरकारी भोजनालयों से भी यह नहीं होगा। इस प्रकार के ऊपरी उपायों से समस्या के मध्य-बिन्दु पर से ध्यान हट जाता है और उसके हल होने में बाधा पैदा हो जाती है। न तो अस्वाभाविक बलिदानों की जरूरत है और न लोगों की चिन्ता करने की ज़रूरत। आवश्यकता सिर्फ यह है कि जो लोग यह पाप कर रहे हैं या उसमें हिस्सा ले रहे हैं, उन्हें उसका भान हो जाय और उससे छुटकारा पाने की उनमें इच्छा जागृत हो जाय। जिस प्रकार सत्य को भले आदमी हमेशा समझते आये हैं, उसको सब मनुष्य समझ ले कि ज़मीन किसी की व्यक्तिगत मिल्कियत नहीं हो सकती, और जिनको उसकी जरूरत है, उनको उससे वंचित रखना पाप है। अपने भरण-पोषण के लिए जिन्हें ज़मीन की जरूरत है, उनको उससे वंचित रखने में लोगों को शर्म महसूस होनी चाहिए। जरूरत-मन्द लोगों को जमीन से वंचित रखने के कार्य में सहयोग देने वालों को भी शर्म आनी चाहिए। जमीन का स्वामी होना और दूसरों के श्रम से लाभ उठाना शर्म की बात होनी चाहिए; क्योंकि दूसरे लोग तभी काम करने को विवश होते हैं, जब उन को ज़मीन पर उनके उचित अधिकार से वंचित कर दिया जाता है।

दास-प्रथा के सम्बन्ध में क्या हुआ? भूस्वामियों को खुद लज्जा आने लगी, अन्याय पूर्ण और निर्दयी क़ानूनों पर अमल करने में सरकार को शर्म महसूस होने लगी और जो दास-प्रथा के शिकार थे, खुद उनको भी अनुभव होने लगा कि उनके साथ अन्याय हो रहा है। भूस्वामी-प्रथा के सम्बन्ध में भी यही होने वाला है। और यह किसी एक वर्ग के लिए ही नहीं, बल्कि सब वर्गों के लिए और एक देश के सब वर्गों के लिए ही नहीं, बल्कि सारी मानव-जाति के लिए आवश्यक है।

हेनरी जार्ज ने लिखा है—समाज-व्यवस्था में शोर मचाने और चिल्लाने, शिकायत करने और निन्दा करने, पार्टियां बनाने अथवा क्रान्तियां करने से सुधार नहीं होता, वह होता है भावना की जागृति और विचारों की प्रगति से। जब तक विचार ठीक न होगा, तबतक सही काम नहीं

हो सकता और जब विचार ठीक होगा तो काम भी ठीक होगा।

'हरेक व्यक्ति और मानव संगठन जो समाज की हालत सुधारना चाहता है उसके लिए बड़ा काम है शिक्षा-प्रसार का, विचारों के प्रसार का। इस कार्य में हरेक विचारशील आदमी मदद दे सकता है। वह पहले खुद अपने विचारों को शुद्ध बनावे और फिर अपने सम्पर्क में आने वालों के विचारों को शुद्ध करे।

यह बिल्कुल ठीक है, किन्तु उस महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए विचार के अलावा धार्मिक भावना की भी जरूरत है—जिसके फलस्वरूप गत शताब्दी में गुलामों के मालिकों ने यह महसूस किया कि वे गलती पर हैं और खुद व्यक्तिगत हानि और बर्बादी उठाकर भी उन्होंने उस पाप से पीछा छुड़ाया जो उनको सता रहा था। यदि ज़मीन को मुक्त करने का बड़ा कार्य सिद्ध होता है तो भूस्वामियों में वैसी ही भावना जाग्रत होनी चाहिए और इस हद तक जागृत होनी चाहिए कि लोग उस पाप से मुक्त होने के लिए, जिसके वे शिकार थे, और हैं, सब कुछ कुर्बान करने को तैयार हो जायं।

एक और सैंकड़ों, हजारों और लाखों एकड़ जमीन पर स्वामित्व भोगना, जमीन का व्यवसाय करना और जमींदारी से इस या उस तरीके से लाभ उठाना, लोगों को सताकर ऐश्वर्य्य का जीवन बिताना और अन्याय से प्राप्त असाधारण सुविधाओं को छोड़ने के लिए तैयार न होना और दूसरी ओर सभासमितियों में लोगों की हालत सुधारने के बारे में चर्चायें करना न केवल अच्छा नहीं है, बल्कि हानिकारक और भयंकर है और सामान्य विवेक और ईमानदारी के प्रतिकूल है।

जो लोग भूमि से वंचित हैं, उनकी हालत सुधारने के चतुराई पूर्ण उपाय खोजने की जरूरत नहीं, किन्तु वंचित करने वालों को यह समझना चाहिए कि वे पाप कर रहे हैं। उन्हें हर जोखम उठाकर उससे बिरत होना चाहिए। हरेक व्यक्ति का ऐसा नैतिक काम मानव-समाज की इस समस्या को हल करेगा। रूस में गुलामों का उद्धार ज़ार के द्वारा नहीं

हुआ, बल्कि उन लोगों के द्वारा हुआ जिन्होंने गुलाम-प्रथा के पाप को समझा और अपने व्यक्तिगत लाभ का खयाल न करके उससे मुक्त होने का प्रयत्न किया। इसका श्रेय उन लोगों को है जो दूसरों को कष्ट पहुंचाये बिना खुद कष्ट उठाने को उद्यत हुए और जिन्होंने अपनी दृष्टि के अनुसार सत्य की खातिर कष्ट सहे भी। ज़मीन की मुक्ति के सम्बन्ध में भी यही होना चाहिए। मेरा विश्वास है कि ऐसे लोग हैं जो इस महान कार्य को सिद्ध करेंगे। जमीन का सवाल दास-प्रथा के सवाल जितना ही परिपक्व हो चुका है। पचास वर्ष पहले जिस प्रकार समाज में दास-प्रथा के विरुद्ध बेचैनी फैल गई थी और हर प्रकार के बाह्य उपचार किये गये, किन्तु जब तक दास-प्रथा का परिपक्व सवाल हल न हुआ, कोई नतीजा नहीं निकला। इसी प्रकार आज जब तक भूमि का परिपक्व सवाल हल न होगा, तब तक बाह्य उपचारों से न कुछ सहायता मिलेगी, न मिल सकती है। यह सवाल उन लोगों द्वारा हल न होगा, जो बुराई की बुराई को कम करने, अथवा लोगों को राहत पहुंचाने अथवा भविष्य पर दार-मदार बांधने की चेष्टा करते हैं। इसका श्रेय तो उनको मिलेगा, जो यह समझते हैं कि ग़लती का चाहे जितना परिमार्जन किया जाय, ग़लती, गलती ही रहेगी। जिस आदमी को हम सता रहे हों उसको राहत पहुंचाने की कोशिश बेकार है और जब लोग कष्ट भुगत रहे हैं तो उनकी पीड़ा को मिटाने का सर्वोत्तम इलाज होना चाहिए।

भूमि-समस्या को हल करने का तरीका हेनरी जार्ज ने इतना बढ़िया निकाला है कि वर्तमान राज्य संगठन और अनिवार्य कर-वसूली के दायरे में उससे ज्यादा व्यावहारिक, न्याय पूर्ण और शान्तिमय तरीका दूसरा नहीं हो सकता। मेरे ख़याल से हेनरी जार्ज का यह विचार सही है कि जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत के पाप का अन्त निकट है। उसने जिस आन्दोलन को जन्म दिया, वह प्रसव की आखरी वेदना थी, अब नव जीवन निकट है, लोगों के लम्बे कष्टों का अन्त होने वाला है। मेरा खयाल है कि इस भीषण और विश्वव्यापी पाप का अन्त मनुष्य-जाति के

इतिहास में एक युगान्तर होगा। मैं चाहता हूं कि योरोप और अमेरिका के लोगों की भांति मेरे देशवासियों को कारखानों की शरण न लेना पड़े, वे ज़मीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व का अन्त कर के इस समस्या को हल करें और दूसरे लोगों के सामने न्यायपूर्ण, स्वतंत्र और सुखी जीवन का उदाहरण पेश करें। आशा है हम लोग, जो दूसरों के श्रम द्वारा पोषण पाते हैं और जिन्हें दूसरों की बदौलत मानसिक कार्य करने का अवकाश मिला है। अपने पाप को पहचानेंगे और व्यक्तिगत लाभ की परवाह न करते हुए सत्य की खातिर उसको मिटा डालेंगे।

: ४ :

ज़मीन का विभाजन

ज़मीन के बंटवारे के सम्बन्ध में हेनरी जार्ज की योजना यह है—ज़मीन के उपयोग के लाभ और सुभीते हर जगह समान नहीं होते। जो ज़मीन उपजाऊ, अच्छी जगह और घनी आबादी के नज़दीक होगी, उसको बहुत से लोग प्राप्त करना चाहेंगे। जमीन जितनी ही ज्यादा अच्छी और लाभदायक होगी, उतना ही अधिक लोग उसे लेना चाहेंगे। अतः इस प्रकार की तमाम ज़मीन की क़ीमत उसकी उपयोगिता के हिसाब से आकी जानी चाहिए। जो ज़मीन जितनी लाभदायक हो, वह उतनी ही मंहगी हो और जो कम लाभदायक हो, वह सस्ती हो। जिस ज़मीन के बहुत थोड़े गाहक हों उसकी कोई कीमत न होनी चाहिए, वह तो उन लोगों को, जो उसे उपयोग में लेना चाहें, बिना मूल्य देदी जाय।

जब देश की तमाम ज़मीन का इस प्रकार मूल्य आंक लिया जाय, तो हेनरी जार्ज का प्रस्ताव यह है कि सरकार एक कानून बनावे जिसके अनुसार अमुक वर्ष की अमुक तारीख के बाद ज़मीन किसी व्यक्ति-विशेष की मिल्कियत न होकर सारे राष्ट्र की यानी तमाम लोगों की हो जाय। और ज़मीन रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति उस ज़मीन का निर्दिष्ट वार्षिक मूल्य राष्ट्र को यानी तमाम लोगों को अदा करे। इस रकम में से तमाम

सार्वजनिक अथवा राष्ट्रीय कामों के लिए खर्च किया जाय और दूसरे तमाम टैक्सों की वसूली बन्द कर दी जाय।

इसका परिणाम यह होगा कि कोई भी भूस्वामी चाहे जितनी ज़मीन अपने अधिकार में रख सकेगा, किन्तु उसके बदले में उसे काफी रक़म सरकार को देनी पड़ेगी, यदि ज़मीन की दर पांच रुपया बीघा हो तो दो हज़ार बीघा जमीन के लिए भूस्वामी को दस हज़ार रुपया वार्षिक देना पड़ेगा और इतनी बड़ी रक़म दे सकना उसके लिए आसान न होगा। देहातों में रहने वाले किसान कम खर्च पर अपनी आवश्यकतानुसार ज़मीन पा सकेंगे। इसके अलावा उन्हें और कोई टैक्स न देना पड़ेगा और वे देशी और विदेशी तमाम माल बिना कोई कर चुकाये खरीद सकेंगे। शहरों में मालिक मकानों और कारखानों के मालिक बने रह सकते हैं, किन्तु उनको अपनी ज़मीन की निर्दिष्ट दर सार्वजनिक कोष में भरते रहना होगा।

इस व्यवस्था के निम्नलिखित लाभ होंगे—

१. कोई भी व्यक्ति अपने उपयोग के लिए ज़मीन प्राप्त करने से वंचित न रहेगा।

२, ऐसे आलसी लोगों का अस्तित्व मिट जायगा जो ज़मीन पर क़ब्ज़ा जमाये हुए हैं और उसको उपयोग में लाने की इजाज़त देने के बदले दूसरों को काम करने के लिए मजबूर करते हैं।

३. ज़मीन उन लोगों के अधिकार में होगी, जो उसको काम में लेंगे। उनके अधिकार में नहीं जो खुद उसका उपभोग नहीं करते।

४. चूंकि जमीन पर श्रम करने वालों को ज़मीन मिल जायगी इसलिए वे कारखानों और फैक्ट्रियों में मज़दूर बनकर अथवा शहरों में नौकर बनकर काम न करेंगे और देहातों में बस जायंगे।

५. मिलों, फैक्टरियों, कारखानों में निरीक्षकों और टैक्स वसूल करने वालों की कोई जरूरत न रह जायगी, सिर्फ जमीन का टैक्स वसूल करने वालों की जरूरत पड़ेगी, और जमीन चुराई नहीं जा सकती और उसपर

टैक्स वसूल करना सबसे सरल है।

६. सबसे महत्वपूर्ण बात यह होगी कि श्रम न करने वाले दूसरों के श्रम से नाजायज़ लाभ उठाने के पाप से बच जायंगे। इस पाप के वे बहुधा अपराधी नहीं होते, क्योंकि बचपन से ही उन्हें आलस्य का पाठ पढ़ाया जाता है और वे काम करना जानते ही नहीं। वे उस बड़े पाप से भी बच जायंगे जो उन्हें अपने पाप-कर्म का समर्थन करने के लिए झूठ बोलकर करना पड़ता है। श्रमिकों को भी श्रम न करने वालों से ईर्ष्या करने, उनकी निन्दा करने और मरने-कटने के लिए उद्यत हो जाने का लोभ और पाप न करना पड़ेगा और इस प्रकार मनुष्यों-मनुष्यों में विग्रह का एक बड़ा कारण नष्ट हो जायगा।

: ५ :

मालिकों का कर्त्तव्य

हमने दो साल तक दुष्काल पीड़ितों को सहायता पहुंचाने का काम किया। उसके फलस्वरूप हमारा पुराना विश्वास बिल्कुल दृढ़ हो गया कि मनुष्यों के अधिकांश प्रभावों और दरिद्रता एवं उनसे संलग्न पीड़ा और शोक का जन्म हमसे पृथक किसी असाधारण और क्षणिक कारण से नहीं हुआ है। उनके मूल में सामान्य स्थायीकारण हैं जो हम पर आधार रखते हैं। हम पढ़े लिखे लोगों का गरीब सीधे सादे श्रमिकों के प्रति जो अधार्मिक और मातृत्व विरोधी सम्बन्ध रहा है, वही सारी बुराइयों की जड़ है। जिस दुख और अभाव का उन्हें निरन्तर सामना करना पड़ता है और उसके फलस्वरूप उन्हें जिस कटुता और कष्ट सहन का भागीदार होना पड़ता है, वे पिछले दो सालों में और ज्यादा स्पष्ट हो गए थे। यदि इस वर्ष हमको अभाव, शीत और भूख की चर्चा नहीं सुनाई देती, हजारों लोग अति परिश्रम से थक कर नहीं मर रहे और अध-मरे वृद्ध और बालक नहीं दिखाई देते तो इसका यह मतलब नहीं कि ऐसा आगे होगा ही नहीं। होगा सिर्फ यही कि हम ऐसे दृश्यों को न

देखेंगे, हम उन्हें भुला देंगे और अपने दिल में यकीन कर लेंगे कि उनका अस्तित्व ही नहीं है और यदि है तो वह अनिवार्य है और उसका कोई इलाज नहीं हो सकता। किन्तु यह मन समझावन ठीक नहीं। यह बिल्कुल सम्भव है कि उक्त दृश्यों का नामो-निशान मिटा दिया जाय। उनका अस्तित्व नहीं रहना चाहिए। समय आ रहा है जबकि दुखदाई दृश्य मिट जायंगे और वह समय निकट है।

हमको मज़दूर वर्गों की नज़र से मधु का प्याला कितनी ही अच्छी तरह छिपा हुआ क्यों न प्रतीत हो, श्रम के भार से कुचले गये और अधपेट मज़दूरों के बीच अपनी मौज शौक़ की जिन्दगी का समर्थन करने के लिए हमारे बहाने चाहे जितने चतुराईपूर्ण, प्राचीन और सर्वमान्य क्यों न हों, जनता और हमारे सम्बन्धों पर अधिकाधिक रोशनी पड़ रही है और हमारी हालत शीघ्र ही उस अपराधी की भांति भयावह और लज्जाजनक हो जायगी जो अचानक दिन निकलने पर ही पकड़ लिया जाता है। एक व्यापारी मज़दूरों को निकम्मा और हानिकर माल देता है और उसकी अधिक से अधिक क़ीमत वसूल करने की कोशिश करता है अथवा मान लीजिए अच्छा उपयोगी माल देता है। वह कह सकता है कि वह सच्चा व्यापार करके लोगों की आवश्यकता पूर्ण करता है। कपड़ा, दर्पण, सिगरेट अथवा शराब बनाने वाला भी कह सकता है कि वह मज़दूरों को काम देकर उनका पेट भरता है अथवा एक सरकारी कर्मचारी अधपेट रहने वाले लोगों से प्राप्त रक़म में से हज़ारों रुपया वेतन लेकर भी यह मान सकता है कि वह लोगों की भलाई के लिए काम करता है। अथवा एक भूस्वामी अपने किसान को जीवन-मज़दूरी भी न देकर कह सकता है कि वह खेती के तरीक़ों में सुधार करके देहाती जनता की खुशहाली बढ़ा रहा है। किन्तु अब, जब कि लोग रोटी के अभाव में भूखों मर रहे हैं और दूसरी तरफ़ भूस्वामियों के सैकड़ों बीघा खेतों में शराब बनाने के लिए आलू बोये गए हैं, उपरोक्त बातें नहीं कही जा सकतीं। जब कि हम ऐसे लोगों से घिरे हुए हैं जो भोजन के अभाव

में और काम की अधिकता के कारण मर रहे हैं। हम यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकते कि हम मज़दूरों के श्रम से उत्पन्न सामग्री का जो उपयोग करते हैं, उसके फलस्वरूप एक ओर मज़दूरों को रोटी के लाले पड़ जाते हैं और दूसरी ओर उनपर काम का बोझ इतना बढ़ जाता है कि उनकी कमर तोड़े डाल रहा है। बाग़-बग़ीचों, कला-मन्दिरों और शिकारगाहों जैसे उच्छृङ्खल सुखोपभोग की बातें छोड़ दें तो भी शराब का हर गिलास, शक्कर मक्खन और मांस का प्रत्येक कण लोगों की थाली में से आता है और जितना ही हम इन वस्तुओं का उपयोग करते हैं उतना ही मजदूरों का भार बढ़ जाता है।

मुझे याद है कि अकाल पड़ने से कई वर्ष पहले चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्रेग से एक नौजवान विद्वान देहात में मुझ से मिलने आया था। वह बड़ा नीतिमान था। हम एक किसान का घर देखने गये जो दूसरों की अपेक्षा खुशहाल था। हमने देखा कि उस घर में भी घर की मालिकन को अपनी शक्ति से अधिक काम करना पड़ता है, वह असमय ही वृद्ध हो गई है और फटे-पुराने कपड़े पहने है, एक बीमार बालक है जो पड़ा-पड़ा बुरी तरह चिल्ला रहा है, एक दुबला-पतला बछड़ा और उसकी लंगड़ी मां बंधे हैं, गन्दगी और नमी है, दुर्गंधित वायु फैली हुई है और घर का मालिक किसान चिन्ताग्रस्त और निराशा में डूबा हुआ है। मुझे याद है कि जब हम उस किसान को झोंपड़ी से बाहर निकले तो मेरा साथी मुझ से कुछ कहने लगा। इतने में अचानक उसकी आवाज़ बन्द हो गई और वह रो पड़ा। वह कुछ महीनो मास्को और पीटर्सबर्ग में रह चुका था। वहां वह कोलतार की सड़कों पर घूमा था, सजी-धजी दुकानें देख चुका था। वहां मकान भी एक से एक शानदार थे—अजायब घर, पुस्तकालय, राजमहल आदि की इमारतें एक दम भव्य थीं। इस सबके बाद उसने पहली बार उनको देखा जो यह सारा ऐश्वर्य सुलभ करते हैं। उनकी हालत देखकर वह दंग रह गया। वह समझता था कि मेरे देश में अपेक्षाकृत आज़ादी है, शिक्षा सार्वत्रिक है, हर आदमी

शिक्षितों की श्रेणी में प्रवेश कर सकता है—सुखोपभोग परिश्रम का उचित पुरस्कार है और मानव जीवन को नष्ट नहीं करता। मैं उसका यह ख्याल सही नहीं मानता। लोगों ने पीढ़ी दर पीढ़ी कोयलों की खानों को खोदा है। उसी कोयले से हमारे सुखोपभोग की अधिकतर सामग्री पैदा होती है। योरोप वालों को इस बात का भी क्या पता कि उपनिवेशों में दूसरी जातियों के लोग उनकी सनक की पूर्ति करने के लिए मरते-खपते रहते हैं? किन्तु जो देश उपनिवेशों पर जीवित नहीं रहते, वे ऐसा नहीं समझ सकते। वहां यह बात बिल्कुल स्पष्ट होती है कि उस देश के धनिकों का सुखोपभोग अपने देशवासियों के दुःखों और अभावों के लिए जिम्मेदार है। हम यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकते कि हमारे आराम और सुखोपभोग की खातिर अनेक मनुष्यों के जीवन नष्ट हो जाते हैं।

सूरज निकल चुका है। प्रकट को हम नहीं छिपा सकते। हम सरकार की ओट में, लोगों पर शासन करने की ज़रूरत के नाम पर, विज्ञान अथवा कला (जो लोगों के लिए आवश्यक समझे जाते हैं), के नाम पर अथवा सम्पत्ति के पवित्र अधिकारों की रक्षा और अपने पूर्वजों की परम्पराओं की रक्षा के नाम पर सत्य पर पर्दा नहीं डाल सकते। सूरज निकल चुका है और ये पारदर्शी परदे कोई बात किसी से छिपी नहीं रख सकते। हरेक आदमी अब यह समझता है और जानता है कि जो लोग सरकारी नौकरी करते हैं, वह लोगों की सेवा करने के लिए नहीं, (क्योंकि लोगों ने उनसे सेवा करने के लिए कब कहा था?) बल्कि वेतन पाने के लिए करते हैं और जो विज्ञान और कला के क्षेत्र में लगे हुए हैं, वे भी लोगों को प्रकाश देने के लिए नहीं, बल्कि तनखाहों और पेन्शनों के लिए लगे हुए हैं। और जो लोगों को भूमि से वंचित रखते हैं, वे किन्हीं पवित्र अधिकारों को क़ायम रखने के लिए ऐसा नहीं करते। उनका उद्देश्य होता है अपनी आमदनी बढ़ाना, ताकि वे अपनी मन-मानी इच्छाओं की पूर्ति कर सकें। इस सत्य को छिपाना और झूठ बोलना अब सम्भव

नहीं रह गया है।

शासक वर्ग धनिकों और श्रम न करने वालों के लिए अब केवल दो ही मार्ग रह गये हैं। एक मार्ग तो यह है कि वे न केवल धर्म के असली अर्थों में तिलांजलि दे दें, बल्कि मानवता, न्याय और इस प्रकार के तमाम सद्गुणों को ताक में रख दें और साफ-साफ कह दें—"हमारे ये विशेषाधिकार हैं, और कुछ भी क्यों न हो हम उनकी रक्षा करेंगे जो भी हम को उनसे वंचित करना चाहेगा, उसको हम से लड़ना होगा; ताक़त हमारे हाथ में है। फाँसी के तख्ते, जेलखाने, अदालतें, पुलिस सभी हमारे अधिकार में हैं।" दूसरा मार्ग यह है कि हम अपना अपराध स्वीकार कर लें, झूठ बोलना छोड़ दें, पश्चात्ताप करें और लोगों की सहायता करें—थोथे शब्दों से नहीं जैसा कि हम करते आये हैं अर्थात् लोगों को दुःख और कष्ट पहुंचा कर जो लाखों रुपया इकट्ठा किया जाता है उसमें से हजार दो हजार खर्च कर देते हैं, बल्कि श्रमिकों और हमारे बीच जो अप्राकृतिक दीवार खड़ी है उसको तोड़ डालें और केवल शब्दों में ही नहीं, बल्कि वस्तुतः उनको अपना भाई स्वीकार कर लें। हम अपने जीवन क्रम को बदल दें, अपनी सुविधाओं और विशेषाधिकारों को तिलांजलि दे दें और उसके बाद जनता के समकक्ष खड़े हों और आम लोगों के साथ शासन, विज्ञान और समता के वरदानों को प्राप्त करें, जिनको कि हम बिना उनकी इच्छा जाने बाहर से देने की कोशिश करते आये हैं। हम चौराहे पर खड़े हैं और हमको फैसला करना है कि हम को किस रास्ते पर चलना है।

पहले मार्ग का अर्थ यह है कि हम सदा के लिए असत्य को अपनाते हैं, हमको यह निरन्तर डर बना रहता है कि कहीं हमारे असत्य का पर्दाफ़ाश न हो जाय। उस दशा में यह महसूस होता है कि आगे-पीछे एक-न-एक दिन हमको उस स्थान से अलग कर दिया जायगा, जिससे कि हम इस क़दर चिपटे हुए हैं। दूसरे मार्ग का अर्थ यह है कि हम स्वेच्छापूर्वक उस बात को स्वीकार करलें जिसका हम दावा करते आये हैं और जो

हमारा हृदय और विवेक चाहता आया है तथा उसपर अमल शुरू करदें; क्योंकि यह आगे-पीछे होकर रहना है। यदि हम खुद न करेंगे तो दूसरे लोगों के इस शक्ति-संन्यास में ही वर्तमान संसार के कष्टों का अन्त निहित है। हम वास्तविक धर्म को अपनावें और जो असत्य है उसका त्याग करें, तभी मुक्ति सम्भव है।

: ६ :

मज़दूर क्या करें ?

मैं अब अधिक दिन जीने वाला नहीं हूं और मरने के पहले मैं मज़दूरों को बता देना चाहता हूं कि मैंने उनकी पद्दलित अवस्था के सम्बन्ध में क्या सोचा है, और वे किन उपायों द्वारा अपने को आज़ाद कर सकते हैं। शायद जो कुछ मैंने सोचा है (मैंने बहुत सोचा है) वह मज़दूरों के लिए उपयोगी साबित हो जाय। सम्भवतः मैं यह रूस के श्रमजीवियों को लक्ष्य में रखकर लिख रहा हूं, कारण, मैं उन्हीं के बीच में रहता हूं और दूसरे देशों के मज़दूरों की अपेक्षा उन्हें ज्यादा अच्छी तरह जानता हूँ। किन्तु मुझे आशा है कि मेरे कुछ विचार अन्य देशों के मज़दूरों के लिए भी बेकार साबित न होंगे।

श्रमजीवियो, तुमको अपनी तमाम ज़िन्दगी कठोर परिश्रम करते हुए ग़रीबी में गुज़ारनी पड़ती है और दूसरी ओर ऐसे लोग हैं जो बिल्कुल काम नहीं करते एवं तुम जो कुछ पैदा करते हो, उससे लाभ उठाते हैं। तुम उन लोगों के गुलाम हो। किन्तु जो सहृदय और समझदार व्यक्ति हैं उनको यह ज्ञान हो चुका है कि ऐसा नहीं होना चाहिए।

पर इसका उपाय क्या है? पहला सरल और स्वाभाविक उपाय तो यह प्रतीत होता है कि जो लोग तुम्हारे श्रम का अनुचित लाभ उठाते हैं, उनसे वह जबर्दस्ती छीन लिया जाय। पुराने ज़माने से लोगों को यही उपाय सूझता आया है। अति प्राचीन काल में रोम के गुलामों ने और मध्य-युग में जर्मनी तथा फ्रांस के किसानों ने और स्टैंका रासिन के समय

रूसी लोगों ने इसी उपाय का अवलम्बन किया था।

अन्याय-पीड़ित श्रमजीवियों को सबसे पहले यही उपाय नज़र आता है। किन्तु उससे न केवल उद्देश्य की सिद्धि ही नहीं होती, बल्कि उनकी हालत सुधरने के बजाय और ज्यादा बिगड़ जाती है। पुराने ज़माने में जब सरकारों की ताक़त आजकल की जितनी संगठित न थी, ऐसे विद्रोहों के सफल होने की आशा की जा सकती थी। किन्त आज राज्य-संस्था के पास करोड़ों रुपये, रेल, तार, पुलिस, सैनिक मौजूद हैं। आज तो विद्रोहों का परिणाम यह निकलता है कि मज़दूरों को और भी सताया जाता है और फाँसी के तख्तों तक पर चढ़ा दिया जाता है एवं मज़दूरों पर मुफ्तख़ोरों की सत्ता और भी स्थायी हो जाती है।

मज़दूरो, हिंसा का मुक़ाबला हिंसा से करने की कोशिश करके तुम वही काम करते हो जो रस्सी से जकड़ा हुआ आदमी रस्सी को खींच कर करता है। ऐसा कर के वह रस्सी की गाठों को और भी अधिक कस देता है। जो चीज़ तुमसे बलपूर्वक छीन ली गई है, उसको बल-प्रयोग द्वारा प्राप्त करने की कोशिश का भी वही नतीजा होगा अर्थात् तुम्हारे बन्धन और मज़बूत हो जायंगे।

अब यह स्पष्ट है कि मार-काट का उपाय अपने उद्देश्य में सफल नहीं होता, बल्कि उससे मज़दूरों की दशा सुधरने के बजाय बिगड़ जाती है। इसलिए, हाल में मज़दूरों के उद्धार के लिए श्रमजीवियों के हितचिन्तकों ने अथवा हित-चिन्ता करने का दावा करने वालों ने एक नया उपाय खोज निकाला है। इसका मुख्य आशय यह है कि तमाम श्रमजीवियों को अपनी ज़मीनों से हाथ धो लेना पड़ेगा और वे कारखानों में मज़दूरी करने लगेंगे। इस सिद्धान्त के अनुसार यह उतना ही निश्चित है, जितना कि निश्चित समय पर पूर्व में सूर्य का उदय होना। फिर यह श्रमजीवी अपने संगठन कायम करेंगे, प्रदर्शन करेंगे और धारा सभाओं में अपने पक्षपातियों को चुनकर भेजेंगे और अपनी हालत सुधारते जायंगे, यहां तक कि अन्त में तमाम मिलों और कार-

खानों तथा ज़मीन सहित उत्पत्ति के तमाम साधनों पर कब्ज़ा जमा लेंगे। इसके बाद वे बिल्कुल आज़ाद और सुखी हो जायंगे। यद्यपि यह सिद्धान्त अस्पष्ट है, मनमानी कल्पनाओं और परस्पर विरोधी बातों से भरा पड़ा है और बिल्कुल मूर्खतापूर्ण है तो भी इधर उसका अधिकाधिक प्रचार हो रहा है। यह सिद्धान्त उन देशों में ही नहीं माना जा रहा है जहां अधिकतर आबादी कई पीढ़ियों से खेती को छोड़ चुकी है, बल्कि उन देशों में भी माना जा रहा है जहां मज़दूरों ने अभी भूमि को छोड़ने की कल्पना भी नहीं की है।

इस शिक्षा का पहला तकाज़ा यह है कि देहात के श्रमजीवी खेती सम्बन्धी विविध धन्धों के परम्परागत, स्वास्थ्यकर और सुखी वातावरण में एक ही प्रकार के जीवन-नाशक काम करने लगें। देहात में मज़दूर एक तरह की आज़ादी अनुभव करता है और प्रायः अपनी सारी आवश्यकतायें अपने श्रम से पूरी कर लेता है। उसके मुकाबले में कारखानों में मज़दूर मालिक पर पूरी तरह निर्भर हो जाता है। ऐसी दशा में जिन देशों में श्रमजीवी खेतों पर निर्वाह कर रहे हैं यह शिक्षा सफल न होनी चाहिए।

किन्तु रूस जैसे देशों में भी, जहां ९८ प्रतिशत आबादी खेती पर जीवन निर्वाह करती है, शेष दो प्रतिशत श्रमजीवी, जो खेती का धन्धा छोड़ चुके हैं, इस शिक्षा के प्रचार को बड़ी तत्परता के साथ ग्रहण कर लेते हैं। यह इसलिए होता है कि खेती को छोड़ने वाला श्रमजीवी अनजाने शहर और कारखानों की ज़िन्दगी के प्रलोभनों में फंस जाता है। और समाजवादी शिक्षा इन प्रलोभनों की न्यायोचितता का समर्थन करती है। वह आवश्यकताओं की वृद्धि को मनुष्य के विकास का चिह्न मानती है।

ये श्रमजीवी समाजवाद की शिक्षा की अधूरी बातों का बड़े उत्साह के साथ अपने साथियों में प्रचार करते हैं। इस प्रचार के फलस्वरूप और अपनी जरूरतों को बढ़ा लेने के कारण वे अपने को प्रगतिशील

सुधारक और देहाती किसान से ऊंचा समझने लगते हैं। किन्तु देहातों के श्रमजीवियों को संघ क़ायम करने, जुलूस निकालने, अपने पक्ष के प्रतिनिधि धारा सभाओं में भेजने आदि कार्यों से, जिनके द्वारा कारखानों के मजदूर अपनी गिरी हुई हालत को सुधारने की चेष्टा करते हैं, कोई खास दिलचस्पी नहीं होती।

देहातो के श्रमजीवियों के लिए यह बिल्कुल जरूरी नहीं कि उनकी मजदूरी बढ़ाई जाय अथवा काम के घण्टे कम किये जायं। उन्हें तो केवल एक ही चीज़ की जरूरत है और वह जमीन है। सभी जगह उनके पास इतनी कम जमीन रह गई है कि वे उससे अपने परिवार का भरण-पोषण नहीं कर सकते। किन्तु श्रमजीवियों की इस सब से बड़ी जरूरत के सम्बन्ध में समाजवादी शिक्षा मौन है।

समाजवादी पंडित कहते हैं कि पहले खानों और कल-कारख़ानों को हाथ में लेना चाहिए और बाद में ज़मीन को। समाजवादियों की शिक्षा के अनुसार ज़मीन पर अधिकार प्राप्त करने के पहले श्रमजीवियों को मिलों और कल-कारखानों पर अधिकार पाने के लिए पूंजीपतियों से झगड़ना चाहिए। जब वे इसमें सफल हो जायंगे, तभी वे ज़मीन पर भी कब्ज़ा कर सकेंगे। मनुष्यों को ज़मीन की ज़रूरत है, किन्तु उन्हें कहा यह जाता है कि ज़मीन को प्राप्त करना है तो पहले उसे छोड़ दो। इसके बाद समाजवादी पैग़म्बरों द्वारा बताये हुए पेचीदा ढंग से मिलों और कारखानों के अलावा जिनकी उन्हें ज़रूरत नहीं है, ज़मीन भी उन्हें मिल जायगी। यह बात उन तरीक़ों की याद दिलाती है जो कुछ सूदखोर काम में लाते हैं। आप एक सूदखोर से एक हज़ार रुपया मांगते हैं। आपको सिर्फ रुपये की ज़रूरत है, किन्तु सूदखोर आप से कहता है कि मैं आपको एक हजार रुपया तभी दे सकता हूं, जब आप चार हजार रुपये की ऐसी चीजें भी मुझ से लें, जिनकी आप को जरूरत नहीं है। इसी प्रकार समाजवादी पहले तो इस सर्वथा ग़लत निर्णय पर पहुंचे कि मिल अथवा कारखाने की भांति ज़मीन भी श्रम का एक साधन है और फिर मज़दूरों

को सलाह देने लगे कि ज़मीन को छोड़ दो, हालांकि ज़मीन के अभाव में ही वे कष्ट पा रहे हैं और उन कारखानों पर कब्जा प्राप्त करने की कोशिश करो, जो तोपें, बन्दूकें, सुगन्धित इत्र, साबुन, दर्पण आदि विविध प्रकार की विलासिता की सामग्री उत्पन्न करते हैं । और जब श्रमजीवी यह सामग्री बनाने में दक्षता प्राप्त कर लेंगे और खेती का काम भूल चुकेंगे तो उन्हें जमीन पर भी अधिकार करने के लिए कहा जायगा ।

खेती सुखी और स्वतंत्र मानव जीवन का एक मुख्य साधन रही है और आगे भी रहेगी। इस बात को तमाम मनुष्य जानते आये हैं और जानते हैं और इसीलिए उन्होंने हमेशा कृषि द्वारा जीवन निर्वाह करने की कोशिश की है और आगे भी करते रहेंगे। जिस प्रकार मछली पानी बिना जिन्दा नहीं रह सकती उसी प्रकार मनुष्य खेती बिना जिन्दा नहीं रह सकता ।

किन्तु समाजवादी शिक्षा में कहा जाता है कि मनुष्यों के सुख के लिए यह जरूरी नहीं है कि वे वनस्पति जगत और पशुओं के बीच जीवन-यापन करें और अपने कृषि सम्बन्धी श्रम द्वारा ही प्रायः अपनी तमाम आवश्यक ज़रूरतें पूरी कर लिया करें। इसके लिए तो उन्हें कारखानों के केन्द्रस्थानों में रहना चाहिए, जहां की हवा सदा दूषित बनी रहती है। उन्हें अपनी जरूरतें बराबर बढ़ाते जाना चाहिए और यह ज़रूरतें तभी पूरी हो सकती हैं जब कारखानों में विचाररहित श्रम किया जाय। और श्रमजीवी कारखानों के जीवन के जाल में फँसकर इस समाजवादी शिक्षा को सच मान लेते हैं । वे काम के घण्टों और मज़दूरी प्राप्त करने के लिए पूंजीपतियों के साथ कठोर लड़ाई लड़ने में अपनी तमाम ताक़त खर्च कर देते हैं और समझने लगते हैं कि वे बहुत महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। किन्तु उन श्रमजीवियों के लिए जो जमीन से जुदा कर दिये गए हैं एक ही बात ज़रूरी है । उन्हें अपनी तमाम शक्तियां ऐसा कोई साधन ढूंढ़ने में खर्च करनी चाहिए कि वे पुनः खेती कर सकें और प्रकृति के बीच नैसर्गिक जीवन बिता सकें। किन्तु समाजवादी

कहते हैं कि यदि यह सच भी हो कि प्रकृति की गोद में रहना कारखानों के जीवन से अच्छा है तो भी कारखानों में काम करने वालों की तादाद इतनी बढ़ चुकी है, और कृषि जीवन को छोड़े उन्हें इतना अधिक समय हो चुका है कि अब वे खेती का आश्रय नहीं ले सकते। कारण, यदि वे खेती करने के लिए लौट जायंगे तो अकारण कारखानों में पैदा होने वाली चीज़ों की मात्रा घट जायगी और यह चीजें ही देश की सम्पत्ति होती हैं। इसके अतिरिक्त यदि ऐसा न हो तो भी इतनी ज़मीन नहीं मिल सकेगी कि जिस पर कारखानों के तमाम मजदूर काम कर सकें और उनका भरण-पोषण हो जाय।

पर यह सही नहीं है कि कारखानों के मजदूरों के खेती को अपना लेने से देश की सम्पत्ति कम हो जायगी। कारण, खेती करने वाले श्रमजीवी अपना कुछ समय घर पर अथवा कारखानों में जाकर चीजें बनाने में लगा सकते हैं। किन्तु यदि इस परिवर्तन से एक ओर बेकार और हानिकर चीजों की उत्पत्ति कम हो जाय, जो कि कारखानों में बड़ी तेजी के साथ हो रही है तथा आवश्यक वस्तुओं का वर्तमान अत्यधिक उत्पादन बन्द हो जाय और दूसरी ओर अनाज, सब्जी, फल और घरेलू पशुओं की उत्पत्ति बढ़ जाय तो इससे राष्ट्र की सम्पत्ति किसी प्रकार कम न होगी बल्कि वह बढ़ेगी ही।

और यह दलील भी सही नहीं है कि कारखानों के श्रमजीवियों के लिए पर्याप्त जमीन न मिल सकेगी। अधिकांश देशों में भूस्वामियों के कब्जे में जो जमीन है, वह तमाम श्रमजीवियों के लिए पर्याप्त होगी। यदि खेती आधुनिक ढंग से की जाय, अथवा कम से कम उसी ढंग से की जाय, जिस ढंग से कि एक हजार वर्ष पहले चीन में की जाती थी।

इस प्रश्न में दिलचस्पी रखने वाले लोगों को क्रोपाटकिन की Conquest of Bread* और Field, Factories & Workshop

* **इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद मंडल ने 'रोटी का सवाल' नाम से किया है।**

नामक पुस्तकें पढ़नी चाहिए। उन्हें तब ज्ञात हो जायगा कि भली प्रकार खेती करने पर खेती की पैदावार कितनी बढ़ाई जा सकती है और उतनी ही जमीन से कितने अधिक आदमियों का भरण-पोषण हो सकता है। धनवान भूस्वामियों को जमीन की उत्पादन शक्ति बढ़ाने की कोई जरूरत नहीं मालूम पड़ती। कारण, उन्हें बिना कोई कष्ट किये जमीन से काफी आय मिल जाती है। किन्तु छोटे किसानों को यदि अपनी कमाई का सारा भाग भूस्वामियों को न देना पड़े तो वे खेती के सुधरे हुए तरीकों को जरूर अपनावेंगे।

यह कहा जाता है कि इतनी जमीन नहीं है कि उसपर सब श्रमजीवी काम कर सकें। इसलिए उस जमीन के लिए झगड़ा करना फ़िज़ूल है, जिसको भूस्वामियों ने दबा रक्खा है। यह दलील उस मालिक मकान की दलील जैसी ही है जिसके पास एक खाली मकान पड़ा है, किन्तु वह लोगों की भीड़ को आंधी और वर्षा में शीत से बचने के लिए उसमें इसलिए नहीं घुसने देता कि उस मकान में सब लोगों का समावेश नहीं हो सकता। पहली बात तो यह है कि जो लोग मकान में दाखिल होना चाहते हैं उन्हें दाखिल होने देना चाहिए और फिर देखना चाहिए कि वे सब उसमें स्थान पा सकते हैं अथवा नहीं। और यदि सब स्थान न पा सकें तो जो पा सकते हों उन्हें ही स्थान क्यों न दिया जाय? जमीन के बारे में भी यही बात है। जो लोग जमीन मांगते हैं, उनको भूस्वामियों की जमीन दी जानी चाहिए। और तब यह देख लिया जायगा कि वह काफी होगी अथवा नहीं। इसके अलावा यह बात भी क़रीब-क़रीब ग़लत है कि कारखानों में काम करने वाले मजदूरों के लिए जमीन काफ़ी न होगी। यदि कारखानों के मजदूरों का गुजारा अभी खरीदे हुए अन्न पर होता है तो दूसरों का पैदा किया हुआ अन्न खरीदने के बजाय वे स्वयं ही अपने लिए आवश्यक अन्न पैदा क्यों न करें, चाहे ज़मीन उन्हें हिंदुस्तान, अर्जेंटाइन, आस्ट्रेलिया अथवा साइबीरिया—कहीं भी मिले?

इसलिए वे सब दलीलें आधार रहित हैं जिनमें कहा जाता है कि

कारखाने के मजदूर खेती का आश्रय नहीं ले सकते या उन्हें नहीं लेना चाहिए। इसके विपरीत यह परिवर्तन सर्व साधारण के लिए हानिकर होने के बजाय लाभदायक ही होगा और निस्सन्देह भारत और अन्य देशों में आये दिन पड़ने वाले अकालों का खात्मा हो जायगा, जो इस बात को बड़ी अच्छी तरह सिद्ध करते हैं कि जमीन का मौजूदा बंटवारा ग़लत है।

यह सच है कि जिन देशों में कल-कारखानों का ख़ास तौर पर विकास हो चुका है जैसा कि इंग्लैण्ड, बेलजियम और अमेरिका के कुछ राज्यों में दिखाई देता है, वहां श्रमजीवियों का जीवन इतना बिगड़ गया है कि अब उनके लिए खेती को अपना सकना बहुत कठिन प्रतीत होता है। किन्तु इस कठिनाई से यह नहीं मान लेना चाहिए कि वे खेती को अपना ही नहीं सकते। इसके लिए तो सब से पहले यह ज़रूरी है कि श्रमजीवी इस परिवर्तन को अपने लिए लाभदायक समझें और यह न मान बैठें, जैसा कि समाजवादी सिद्धान्त उन्हें सिखाता है, कि कार-खानों की गुलामी शाश्वत और अपरिवर्तनीय अवस्था है, जिसमें सुधार किया जा सकता है, पर जो खत्म नहीं की जा सकती। इसके विपरीत उन्हें खेती को अपनाने के आवश्यक साधनों की खोज करनी चाहिए।

इस प्रकार जो श्रमजीवी खेती करना छोड़कर कारखानों में मज़दूरी करने लगे हैं, उनको श्रमजीवी संघों, हड़तालों और पहली मई को झण्डे लेकर सड़क पर बच्चों जैसे प्रदर्शन करने की जरूरत नहीं। उन्हें तो सिर्फ एक ही बात की आवश्यकता है और वह यह कि किस प्रकार उनको कारखानों की गुलामी से छुटकारा मिले और वे खेती पर गुज़र-बसर करने लगें। इसमें बाधक हैं वे भूस्वामी, जो स्वयं काम नहीं करते, पर जिन्होंने बड़ी मात्रा में ज़मीन को हड़प रखा है। श्रमजीवियों को वह जमीन दिलवा देने की अपने शासकों से प्रार्थना और मांग करनी चाहिए। इसमें वे किसी बाह्य वस्तु की मांग न करेंगे, जिस पर उनका अधिकार न हो। जमीन पर रहने और उससे अपना भरण-पोषण करने

का अन्य प्राणियों की भांति उनका भी बिल्कुल स्पष्ट और अमर्यादित अधिकार है। इसके लिए उन्हें दूसरों से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। उन्हें अपने इसी अधिकार की मांग करना है।

जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत को खत्म करना अनिवार्य हो गया है, कारण इस प्रथा का अन्याय, उसकी तर्क-हीनता और निर्दयता बहुत स्पष्ट हो चुकी है। सवाल सिर्फ यही है कि उसको खत्म किस प्रकार किया जाय? रूस और अन्य देशों में गुलामी की प्रथा का अन्त सरकारी आज्ञाओं द्वारा किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि पर व्यक्तिगत मिल्कियत का अन्त भी सरकारी आज्ञा द्वारा ही होगा। किन्तु शासन-तंत्र ऐसी आज्ञायें क्वचित ही दिया करते हैं।

शासन-तंत्रों में ऐसे लोगों का बोल-बाला होता है जो दूसरे लोगों के श्रम पर जीवन बसर करते हैं और ज़मीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत के द्वारा वैसा जीवन बिताना सबसे अधिक आसान होता है। इसलिए केवल शासक और भूस्वामी ही इस सुधार का विरोध नहीं करेंगे बल्कि वे लोग भी करेंगे जो शासन अथवा भूस्वामीवाद के अंग नहीं हैं लेकिन फिर भी धनवानों की सेवा करते हैं। ऐसे सरकारी कर्मचारी, कलाकार और वैज्ञानिक ज़मीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व को अपने लिए लाभदायक समझते हुए उसका समर्थन करेंगे अथवा कम जरूरी बुराइयों का विरोध करेंगे, किन्तु इस बड़ी समस्या को स्पर्श तक न करेंगे। अधिकांश खाते-पीते लोग जान-बूझ कर न सही तो कम-से-कम संस्कार-वश यह महसूस करते हैं कि उनकी सुविधाजनक अवस्था का आधार भूस्वामीवाद है। यही कारण है कि धारा-सभाओं में लोगों की भलाई की चिन्ता का दिखावा किया जाता है। उनकी कथित भलाई के नाम पर क़ानून बनाये जाते हैं और चर्चायें की जाती हैं। किन्तु जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व की प्रथा का अन्त करने का जिक्र भी नहीं किया जाता जो कि लोगों की भलाई के लिए नितान्त आवश्यक है।

इसलिए ज़मीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व की समस्या को हल करने के

लिए सब से पहले यह आवश्यक है कि उसके सम्बन्ध में जान-बूझ कर जो मौन साध लिया गया है उसे भंग किया जाय । यह अवस्था उन देशों में है जहां सत्ता का एक भाग धारा सभाओं के हाथ में है। किन्तु जिन देशों में सारी सत्ता राजा के हाथ में हो, वहां ज़मीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत उठाने की आज्ञा निकल सकने की और भी कम सम्भावना समझनी चाहिए। राजाओं के हाथ में भी सत्ता नाम के लिए ही होती है। दरअसल वह उन लोगों के हाथ में होती है जो राजा के सम्बन्धी और निकटवर्ती होते हैं। ये लोग राजा को अपनी इच्छानुसार नचाते हैं। इनके अधिकार में बहुत-सारी जमीन होती है और यदि राजा चाहे तो भी उस ज़मीन को उनके हाथों से नहीं निकाल सकता। इसलिए यह आशा करना कि शासन-तंत्र ज़मीन को भूस्वामियों के हाथों से छीन लेगा, दुराशा-मात्र है। बल-प्रयोग द्वारा भी ऐसा नहीं किया जा सकता, कारण, सत्ता हमेशा उन लोगों के हाथों में रही है और रहेगी जिन का कि ज़मीन पर पहले से अधिकार चला आया हो। समाजवादियों की योजना के अनुसार ज़मीन की वापसी की प्रतीक्षा करना भी मूर्खतापूर्ण होगा। यह भविष्य की आशा पर उत्तम जीवन की परिस्थितियों को छोड़कर बुरी परिस्थितियों को अपनाने के सदृश होगा। हरेक समझदार आदमी यह समझता है इस योजना से श्रमजीवियों को मुक्ति तो मिलती नहीं, उल्टे वे मालिकों के और भी ज्यादा गुलाम बन जाते हैं और आगे क़ायम होने वाले कारखानों के संचालकों के गुलाम बनने को तयार होते रहते हैं। प्रतिनिधि शासन अथवा राजाओं से भी भूस्वामीवाद के अंत की आशा नहीं की जा सकती। राजाओं के निकटवर्ती लोगों के अधिकार में बड़ी-बड़ी जागीरें होती हैं। ये लोग किसानों की भलाई के लिए चिन्ता भले ही प्रकट करें, पर वे उन्हें जमीन हर्गिज न सौंपेंगे। कारण, वे जानते हैं कि जमीन पर स्वामित्व क़ायम रखे बिना वे अपनी सुविधाजनक स्थिति अर्थात् बिना श्रम किये दूसरों की मेहनत से लाभ उठाने की स्थिति क़ायम न रख सकेंगे। तो फिर श्रमजीवियों को उस

अत्याचार से मुक्त होने के लिए क्या करना चाहिए जिसके वे इस समय शिकार बने हुए हैं।

शुरू में तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस स्थिति का कोई इलाज ही नहीं है और मजदूर इतने जकड़ चुके हैं कि वे आज़ाद नहीं हो सकते, किन्तु यह कोरा ख़याल है। मज़दूरों को केवल अपने पर होने वाले अत्याचारों के कारणों पर गहराई से विचार करने की जरूरत है; उन्हें ज्ञात होगा कि मार-काट, समाजवाद, अथवा सरकार पर थोथी आशायें बांधने के अलावा उनके पास अपनी आज़ादी हासिल करने का एक और उपाय है जो अचूक है और जिसे कोई बाधा नहीं पहुंचा सकता। यह उपाय हमेशा उनके हाथों में रहा है और अब भी है।

वस्तुतः मज़दूरों की भयंकर दुरवस्था का एक ही कारण है और वह यह है कि जिस जमीन की उन्हें जरूरत है, उस पर भूस्वामियों ने कब्जा कर रखा है। किन्तु प्रश्न यह है कि भूस्वामी इस जमीन को अपने अधिकार में क्योंकर रखे हुए हैं? पहली बात तो यह है कि यदि मजदूर इस जमीन का उपयोग करने की कोशिश करें तो राज्य की फौजें उन्हें ऐसा न करने देंगी; मजदूरों को मार-पीट कर हकाल दिया जायगा और जमीन पुनः भूस्वामियों को सौंप दी जायगी। और इन फौजों में श्रमजीवी ही तो होते हैं। इस प्रकार खुद श्रमजीवी ही भूस्वामियों को उस जमीन पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिए समर्थ बनाते हैं जो न्यायतः उनकी नहीं है, बल्कि सब की है। यही नहीं, श्रमजीवी उस ज़मीन पर खेती करते हैं और भूस्वामियों को लगान देकर उनका उस पर अधिकार क़ायम रखते हैं। श्रमजीवियों को यह बन्द कर देना चाहिए। फिर भूस्वामियों के लिए उस ज़मीन पर कब्जा रखना न केवल व्यर्थ बल्कि असम्भव हो जायगा और जमीन सब की सम्पत्ति बन जायगी। किन्तु यह सम्भव है कि उस दशा में भूस्वामी श्रमजीवियों के बजाय मशीनों से काम लेने लग जायं और खेती के बजाय पशुपालन और जंगलात का काम शुरू कर दें, पर उनका काम मजदूरों के बिना नहीं चल सकता और वे चाहें

या न चाहें, उन्हें क्रमशः अपनी जमीनें छोड़ देनी पड़ेंगी। इस प्रकार श्रमजीवियों के लिए गुलामी से आजाद होने का उपाय केवल यह है कि वे भूमि पर व्यक्तिगत मिल्कियत को अपराध समझने लगें और उस ताक़त को सहयोग न दें जो मजदूरों को जमीन से वंचित करती है और न भूस्वामियों के खेत-मजदूर बनें और न ही उनकी जमीन को लगान पर जोते-बोयें।

यह दलील दी जा सकती है कि यह उपाय तभी कारगर हो सकता है जब दुनिया भर के श्रमजीवी सहयोग करके खेत-मजदूर बनने अथवा जमीन लगान पर लेने से इन्कार कर दें। किन्तु यह नहीं हो सकता। यदि कुछ मजदूर ऐसा करेंगे तो दूसरे मजदूर, दूसरी जातियों के मजदूर इस बात को जरूरी न समझेंगे और भूस्वामी जमीनों पर यथावत अपना अधिकार क़ायम रख सकेंगे। इस प्रकार जो श्रमजीवी असहयोग करेंगे, वे अकारण प्राप्य सुविधाओं से वंचित हो जायंगे और मजदूरों की हालत में कुछ सुधार न होगा। अगर मेरा आशय हड़ताल से होता तो यह दलील बिल्कुल सही होती। पर मैं हड़ताल का प्रस्ताव नहीं पेश कर रहा हूं। श्रमजीवी अत्याचारी सत्ता से सहयोग करना, खेत-मजदूरी करना अथवा लगान पर खेत लेना सिर्फ इसलिए बन्द न करें कि यह बातें उनके लिए हानिकर हैं और उनको गुलाम बनाने वाली हैं, बल्कि यह समझें कि जिस प्रकार हत्या, चोरी और डकैती आदि दुष्कर्मों से दूर रहना और उनमें किसी प्रकार हिस्सा न लेना उनका कर्त्तव्य है, उसी प्रकार उपरोक्त कार्यों में भाग लेना भी बुरा काम है जिससे हर आदमी को बचना चाहिए। यदि श्रमजीवी गहराई के साथ सोचें कि श्रमजीवियों का श्रम न करने वालों की जमीनों पर काम करने का क्या अर्थ होता है तो उन्हें साफ निर्विवाद रूप से ज्ञात हो जायगा कि जमीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व के अन्याय में हिस्सा लेना और उसे क़ायम रखना बुरा काम है। जमीन पर भूस्वामियों के अधिकार को क़ायम रखने का परिणाम यह होता है कि लाखों मनुष्य, वृद्ध, स्त्री-पुरुष और बच्चे गरीबी और कष्ट का जीवन बिताते हैं। उन्हें

अध-पेट रहना पड़ता है; अत्यधिक श्रम करना पड़ता है और अकाल मौत के मुँह में चला जाना पड़ता है। यह सब इसलिए होता है कि जमीन पर भूस्वामियों ने कब्जा जमा रखा है।

यदि ज़मीन पर भूस्वामियों का अधिकार होने के दुष्परिणाम इतने भयंकर हैं और इसमें कोई शक नहीं कि हैं—तो ज़मीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व क़ायम रखने में सहयोग देना और उसका समर्थन करना स्पष्टतः पाप है, जिससे हर व्यक्ति को बचना चाहिए। करोड़ों मनुष्य सूदखोरी, आवारागर्दी, आततायीपन, चोरी, हत्या आदि बातों को पाप-कर्म समझते हैं और उनसे दूर रहते हैं। ज़मीन की व्यक्तिगत मिल्कियत के सम्बन्ध में श्रमजीवियों को भी यही चाहिए। इस प्रकार की मिल्कियत की अन्यायता वे खुद जानते हैं और उसको बुरी और निर्दय बात समझते हैं। तब वे उसमें शरीक क्यों होते हैं और क्यों उसका समर्थन करते हैं?

मैं हड़ताल की सलाह नहीं देता; मैं तो चाहता हूं कि जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत में भाग लेने के पापकर्म को साफ़-साफ़ महसूस किया जाय और फलस्वरूप उससे विरत हुआ जाय। यह सच है कि इस प्रकार के असहयोग से एक ही समस्या को हल करने में दिलचस्पी रखने वाले तमाम लोगों में वह तात्कालिक एकता नहीं होती जो हड़ताल से होती है और इसलिए सफल हड़ताल के जो पूर्ण निश्चित परिणाम निकलते हैं, वे इस असहयोग के नहीं निकल सकते। पर उसके द्वारा हड़ताल की अपेक्षा कहीं ज्यादा मज़बूत और स्थायी एकता उत्पन्न होती है। हड़ताल के दिनों की अस्वाभाविक एकता हड़ताल का उद्देश्य पूरा होते ही खत्म हो जाती है, किन्तु समान-कार्य की एकता अथवा विचारों की समानता से उत्पन्न एकता टूटने के बजाय बराबर शक्तिशाली होती रहती है और अधिकाधिक लोग उसमें शामिल होते रहते हैं। यदि हड़ताल के खयाल से नहीं, बल्कि ज़मीन पर व्यक्तिगत स्वामित्व में भाग लेने को पाप समझ कर श्रमजीवी असहयोग करें तो उसका भी वही परिणाम निकलना चाहिए और निकल सकता है। बहुत सम्भव है कि श्रमजीवी भूस्वामियों की

मिल्कियत में सहयोग देने के अन्याय को समझ जायं, फिर भी उनमें से बहुत थोड़े उनकी जमीनों पर मजदूरी करने या उनको लगान पर लेने से इन्कार कर सकें। किन्तु जो ऐसा करेंगे, वे केवल स्थानीय अथवा तात्कालिक कारण से न करेंगे, बल्कि यह समझ कर करेंगे कि क्या उचित है और क्या अनुचित। वह सब लोगों के लिए हर समय कर्तव्य-रूप होगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि उनके कथन और आचरण से जो मजदूर जमीन पर व्यक्तिगत मिल्कियत के अन्याय और उससे पैदा होने वाले दुष्परिणामों को समझते जायंगे, उनकी तादाद निरन्तर बढ़ती जायगी।

यह ठीक-ठीक बता सकना असम्भव है कि यदि श्रमजीवी जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत में सहयोग देने को पाप समझने लगें तो उसके फलस्वरूप समाज के संगठन में परिवर्तन हो जायंगे; यह निश्चित है कि परिवर्तन होंगे, और जितनी ही उक्त अनुभूति विस्तृत होगी, उतने ही वे महत्वपूर्ण होंगे। कम-से-कम यह हो सकता है कि कुछ श्रमजीवी भूस्वामियों के लिए काम न करें अथवा उनकी जमीन लगान पर न लें और भूस्वामी यह समझने लगें कि जमीन को अपने अधिकार में रखना लाभदायक नहीं रहा। उस दशा में या तो वे ऐसी व्यवस्था मंजूर कर सकते हैं जो उन श्रमजीवियों के लिए लाभदायक हो, अथवा वे अपने स्वामित्व को बिल्कुल ही छोड़ दे सकते हैं। अथवा यह भी हो सकता है कि सेना में जो श्रमजीवी हैं, वे जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत के अन्याय को समझ कर देहात के श्रमजीवी भाइयों को दबाने के कार्य में सहयोग देने से अधिकाधिक इन्कार करते जायं और इस प्रकार सरकार भूस्वामियों की जागीरों का बचाव न करने के लिए विवश हो जाय और तमाम जमीन आजाद हो जाय। अन्त में यह भी सम्भव है कि सरकार जमीन को स्वतंत्र करने की अनिवार्यता को समझ कर श्रमजीवियों की विजय होने के पहले ही एक आज्ञा जारी करके क़ानून द्वारा जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत खत्म कर दे। सार यह कि कई तरह के परिवर्तन हो सकते

हैं और होंगे और पहले से उनको ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता। किन्तु एक बात निश्चित है और वह यह कि परमात्मा की इच्छा अथवा अपने अन्तःकरण के अनुसार इस सम्बन्ध में जो भी काम सचाई के साथ किया जायगा, उसका परिणाम निकले बिना नहीं रहेगा।

जिस समय लोगों के सामने ऐसा कोई काम करने का अवसर आता है जो बहुमत को पसन्द नहीं होता तो बहुधा वे कह देते हैं—"सब लोगों के आगे हम अकेले क्या कर सकते हैं?" ऐसे लोग समझते हैं कि कोई काम तभी सफल हो सकता है जब सब लोग या कम-से-कम बहुत से लोग उसमें साथ हों, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि बहुत लोगों की जरूरत तो बुरे काम के लिए पड़ा करती है। सत्कार्य के लिए तो अकेला आदमी भी काफी होता है। कारण, परमात्मा सदा सत्कर्म करने वाले का साथ देता है। और जिसके साथ परमात्मा होगा उसके साथ आगे-पीछे तमाम आदमी हो जायंगे। हर हालत में श्रमजीवियों की स्थिति में सुधार तभी होगा जब वे परमात्मा की इच्छा और अपने अन्तःकरण के अनुसार अधिकाधिक चलेंगे और पहले की अपेक्षा नैतिकता का अधिकाधिक पालन करेंगे।

उत्पादन के समस्त साधनों को समाज की सम्पत्ति बनाने से पहले ही जो शिक्षा मज़दूरों को उन कारखानों का, जहां वे काम करते हैं, मालिक बना देने की आशा दिलाती है, वह न केवल इस स्वर्ण नियम के विरुद्ध है कि हमको दूसरों के साथ वैसा व्यवहार करना चाहिए, जैसा कि हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ करें, बल्कि निश्चित रूप से अनैतिक है।

मज़दूरों का सैनिकों की हैसियत से बल-प्रयोग करना, खेत-मजदूरी करना अथवा लगान पर जमीन जोतना और इस प्रकार जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत का समर्थन करना उतना ही उस नियम के विरुद्ध है। क्योंकि जो लोग ऐसा करते हैं, उनकी अवस्था क्षणिक तौर पर भले ही सुधर जाय, किन्तु अन्य श्रमजीवियों की दशा इसके फलस्वरूप और भी ज़्यादा खराब हो जाती है।

प्रत्यक्ष बल-प्रयोग, समाजवादी हलचल और अपने लाभ की खातिर व्यक्तिशः भूस्वामित्ववाद का समर्थन—श्रमजीवियों के यह सारे उपाय अभी तक इस लिए सफल नहीं हुए कि वे नैतिक नियम के इस मौलिक-तत्व के अनुकूल नहीं हैं कि हम दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करें जैसा हम चाहते हैं कि दूसरे हमारे साथ करें। मजदूरों को गुलामी से मुक्ति दिलाने के लिए क्रियात्मक प्रयत्न उतना आवश्यक नहीं है, जितना कि यह जरूरी है कि वे पाप से अलग रहें, सिर्फ इस लिए कि ऐसा करना उचित और नैतिक है; अर्थात् परमात्मा की मर्जी का अनुसरण किया जाय।

ग़रीबी उसी समाज में क़ायम रह सकती है, जहां लोग पारस्परिक संघर्ष के जंगली क़ानून का आश्रय लेते हों। किन्तु धर्म-प्राण समाज में गरीबी नहीं हो सकती। जब लोग अपने पास जो कुछ है, उसको आपस में बांट लेंगे तो वह हमेशा सभी की जरूरतों को पूरा करने के लिए काफी होगा और कुछ बच भी रहेगा। एक समय का जिक्र है कि जब ईसा मसीह उपदेश दे रहे थे तो श्रोताओं को भूख लग आई। ईसा मसीह को मालूम हुआ कि कुछ लोगों के पास खाने का सामान मौजूद है। उन्होंने सब श्रोताओं को गोलाकार बनाकर बैठ जाने का आदेश दिया और जिनके पास खाद्य-सामग्री थी, उनको कहा कि वे एक सिर से उसे अपने पड़ोसियों की तरफ बढ़ाना शुरू करें और इस प्रकार जब एक का पेट भर जाय तो वह बची हुई सामग्री अपने पड़ौसी की तरफ बढ़ा दे। इस प्रकार जब यह चक्कर पूरा हुआ तो न केवल सब का पेट भर गया, बल्कि बहुत सारी सामग्री बच रही।

मानव-समाज में जब मनुष्य ऐसा करेंगे तो गरीबी भाग जायगी और उस में रहने वाले मनुष्यों को भूस्वामियों का ज़मीन किराये पर लेने अथवा उनकी मज़दूरी करने की ज़रूरत न पड़ेगी। यह कोई कारण नहीं हो सकता कि चूंकि हम ग़रीब हैं, इसलिए हम ऐसा कोई काम करें जो हमारे दूसरे भाइयों के लिए हानिकर हो।

यदि इस समय श्रमजीवी भूस्वामियों की मज़दूरी करते हैं या उनकी ज़मीन लगान पर लेते हैं तो कारण यह है कि वे अभी इसको पाप नहीं समझते और न यह समझते हैं कि इस प्रकार वे खुद अपना और अपने भाइयों का कितना बड़ा नुक़सान करते हैं। लोगों को ज्यों-ज्यों पता चलेगा कि जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत के साथ सहयोग करने के क्या परिणाम होते हैं और वे इसको जितनी अच्छी तरह समझेंगे, त्यों-त्यों स्वभावतः श्रम न करने वालों का दबाव श्रमजीवियों पर कम होता जायगा।

श्रमजीवियों की दशा सुधारने का एक मात्र निर्विवाद उपाय यह है कि ज़मीन को भूस्वामियों के कब्जे से छुड़वाया जाय; और यह उपाय परमात्मा की मर्जी के अनुकूल है। यदि श्रमजीव उनको दबाने वाली शक्ति को सहयोग न दें और न भूस्वामियों की मजदूरी करें और न उनकी ज़मीन लगान पर लें तो ज़मीन मुक्त हो सकती है। श्रमजीवियों को यह जानना चाहिए कि भूस्वामियों के कब्जे से ज़मीन को छुड़वाना उनके हित के लिए जरूरी है और यह तभी सम्भव हो सकता है जब वे अपने भाइयों के प्रति हिंसा करना, भूस्वामियों की मजदूरी करना और उनकी जमीन लगान पर लेना बन्द कर दें। इसके अलावा श्रमजीवियों को पहले से यह भी जान लेना चाहिए कि जब जमीन भूस्वामियों के अधिकार से मुक्त हो जायगी तो वे उसकी व्यवस्था किस प्रकार करेंगे; श्रमजीवियों में उसको किस प्रकार बांटेंगे।

बहुत से लोग समझते हैं कि एक बार जमीन श्रम न करने वालों के हाथों से छुड़वा लेने के बाद सारा मामला ठीक हो जायगा। किन्तु यह ठीक नहीं है। यह कहना सरल है कि श्रम न करने वालों से जमीन ले ली जाय और श्रमजीवियों को दे दी जाय। किन्तु यह किस प्रकार किया जाय कि अन्याय न हो, और धनवानों को फिर बड़ी-बड़ी जागीरें खरीद कर मज़दूरों को गुलाम बनाने का मौका न मिले।

हम में से कुछ का खयाल है कि मजदूरों अथवा जनसमुदायों को

अपनी इच्छानुसार चाहे जहां जमीन जोतने और बोने का अधिकार होना चाहिए। पुराने जमाने में ऐसा ही होता था। किन्तु यह वहीं सम्भव हो सकता है जहा आबादी कम हो, जमीन की बाहुल्यता हो और वह एक ही किस्म की हो। पर जहा आबादी इतनी अधिक हो कि जमीन से उसका भरण-पोषण न हो सके और जहा जमीन कई किस्मों की हो, वहां जमीन के बँटवारे का दूसरा तरीका ढूंढ़ना होगा। क्या आदमियों की तादाद के हिसाब से उसको बांटा जाय ? किन्तु ऐसा करने से जमीन उनको भी मिल जायगी, जो खेती करना नहीं जानते और ये श्रम न करने वाले लोग उसको धनवानों के हाथ रहन रख देंगे या बेच देंगे और फिर ऐसे लोगों का एक वर्ग पैदा हो जायगा जो श्रम तो करेगा नहीं और बड़ी-बड़ी जागीरों का मालिक बन जायगा। तो क्या श्रम न करने वालों को जमीन बेचने अथवा रहन रखने से रोक दिया जाय ? उस अवस्था में उन लोगों की ज़मीन जो उसे जोतना नहीं चाहते या जोत नहीं सकते, बेकार पड़ी रहेगी। इसके अलावा मनुष्यों की तादाद के हिसाब से जमीन का बंटवारा करने से विभिन्न किस्म की जमीन किस प्रकार बराबर बंट सकेगी। उपजाऊ, बंजर, रेतीली और दलदल वाली सभी तरह की जमीन होती है। शहरों की जमीन का सैंकड़ों रुपया बीघा पैदा होता है और दूर देहातों की जमीन से कुछ आमदनी नहीं होती। तो जमीन किस प्रकार बांटी जाय कि वह श्रम न करने वालों के क़ब्जे में पुनः न जा सके तथा किसी के भी हितों को नुकसान न पहुंचे और न ही किसी प्रकार के मतभेद और झगड़े उठ खड़े हों। इस समस्या को हल करने के लिए अनेक लोगों ने अपना दिमाग़ खपाया है और श्रमजीवियों में जमीन को बांटने की अनेक योजनायें तैयार की गई हैं।

समाज-संगठन की कथित साम्यवादी योजनाओं के अलावा, जिनके अनुसार ज़मीन सार्वजनिक सम्पत्ति समझी जाती है और खेती सम्मिलित रूप से की जाती है, मेरी जानकारी में निम्न योजनायें और हैं:—

एक योजना स्काटलैंड के रहने वाले विलियम ओगिलवी की है।

वह १८-वीं शताब्दी में हुआ था। ओगिलवी का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य जमीन पर पैदा हुआ है और इसलिए उसका यह निर्विवाद अधिकार है कि उस पर वह रहे और उसकी पैदावार से अपना भरण-पोषण करे। थोड़े से लोग जमीन के बड़े-बड़े टुकड़ों को व्यक्तिगत सम्पत्ति बनाकर इस अधिकार को मर्यादित नहीं कर सकते और इसलिए हर मनुष्य का अपने हिस्से की जमीन पर अबाधित अधिकार होना चाहिए। और यदि किसी के कब्जे में उसके हिस्से से अधिक जमीन है और उससे वह लाभ उठाता है और उस अतिरिक्त जमीन के असली मालिक कोई उज्र पेश नहीं करते तो उसको इस अतिरिक्त ज़मीन के उपयोग के लिए राज्य को टैक्स अदा करना चाहिए।

थामस स्पेन्स नामक एक दूसरे अंग्रेज ने कुछ अर्से पीछे ज़मीन की समस्या को इस प्रकार हल किया कि तमाम ज़मीन को जिलों की सम्पत्ति बना दिया जाय और ये जिले अपनी इच्छानुसार उसका बंटवारा करदें। इस प्रकार जमीन की व्यक्तिगत मिल्कियत को उसने सर्वथा निषिद्ध करार दिया। मि० स्पेन्स ने इस सम्बन्ध में सन् १७८८ की एक घटना का जिक्र किया है जो उसके दृष्टिकोण का बड़ा उत्तम उदाहरण है। वह लिखता है—"मैं जंगल में अखरोट बीन रहा था कि जंगलात अफसर आया और पूछने लगा कि मैं क्या कर रहा हूँ? मैंने जवाब दिया कि मैं अखरोट बीन रहा हूँ।"

इसपर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ और वह कहने लगा कि ऐसा करने और कहने का तुम्हें साहस क्योंकर हुआ? मैंने कहा—"मैं ऐसा क्यों न करूं? यदि किसी बन्दर या गिलहरी ने अखरोट खाये होते तो तुमने एतराज किया होता? तो क्या मैं उन जानवरों से भी गया-बीता हूँ अथवा मेरा कम अधिकार है? लेकिन तुम हो कौन, जो इस प्रकार मेरे काम में बाधा डाल रहे हो?"

उसने कहा—"मैं तुम्हें यह उस समय बताऊंगा, जब तुम दूसरों की सीमा में अनधिकार दाखिल होने के जुर्म में पकड़े जाओगे।"

मैंने कहा —"ठीक है, किन्तु जिस जगह किसी आदमी ने न पेड़ लगाये और न जमीन को जोता-बोया, उसमें आना अनधिकार-प्रवेश कैसे हो सकता है ? यह अखरोट प्रकृति ने अपने आप पैदा किये हैं, मनुष्यों और जानवरों-दोनों के पोषण के लिए बनाये गए हैं और इसलिए वे सब की सम्पत्ति हैं।

उसने कहा—"मैं तुमसे कहता हूं कि यह जंगल सार्वजनिक नहीं है। यह पोर्टलैण्ड के उमराव की जागीर है।"

मैंने कहा—"अच्छा ! उमराव महोदय को मेरा सलाम ! पर प्रकृति मुझमें और उनमें कोई भेद नहीं करती। प्रकृति के दरबार में तो यह नियम है कि जो पहले आवे सो पहले पावे। इसलिए यदि उमराव महोदय को अखरोट चाहिएं तो उन्हें आगे से जरा जल्दी आना चाहिए।"

अन्त में स्पेन्स ने कहा है कि जिस देश में उसको अखरोट बीनने का अधिकार न हो, यदि उस देश की रक्षा करने के लिए मुझ से कहा जाय तो मैं बन्दूक फैंक दूंगा और कहूंगा कि पोर्टलैण्ड के उमराव और उनके जैसे लोग ही उसके लिए लड़ें जो देश के मालिक होने का दावा करते हैं।

'विवेक का युग' (The Age of Reason) और 'मनुष्य के अधिकार' (The Rights of man) नामक पुस्तकों के सुप्रसिद्ध लेखक थामस पेन ने भी इसी प्रकार इस समस्या को हल किया है। उनकी योजना की विशेषता यह है कि उन्होंने भूमि पर व्यक्तिगत मिल्कियत का अन्त करने के लिए उत्तराधिकार की प्रथा को मिटा देने का प्रस्ताव किया है ताकि एक मालिक के मरने के बाद उसकी जमीन सार्वजनिक सम्पत्ति हो जाय।

थामस पेन के बाद गत शताब्दि में पेट्रिक एडवर्ड डव ने इस बारे में विचार किया और लिखा। उसकी योजना यह थी कि जमीन का मूल्य दो प्रकार से बढ़ता है—एक तो जमीन की खुद हैसियत होती है और दूसरे उसपर श्रम किया जाता है। श्रम के फलस्वरूप जमीन की जो कीमत बनती है, उसपर व्यक्तियों का अधिकार हो सकता है। इसके

विपरीत जमीन की स्वतः जो क़ीमत होती है, वह तमाम राष्ट्र की सम्पत्ति समझी जानी चाहिए और इसलिए उस पर आज-कल की तरह व्यक्तियों का अधिकार नहीं हो सकता। वह तो सारे राष्ट्र की सम्पत्ति होनी चाहिए।

इस से मिलती-जुलती योजना जापान की भूमि-उद्धारक संस्था की है। उसका सार यह है कि प्रत्येक मनुष्य का अपने हिस्से की जमीन पर अधिकार होना चाहिए, बशर्ते कि वह उसके लिए एक निश्चित टैक्स देता हो और इसलिए वह अपने हिस्से से अधिक जमीन अपने अधिकार में रखने वालों से मांग कर सकता है कि उसको अपने हिस्से की जमीन सौंपी जाय।

किन्तु व्यक्तिशः मैं हेनरी जार्ज की योजना को अन्य सब योजनाओं से अधिक न्यायपूर्ण, लाभकारी और व्यावहारिक समझता हूं। संक्षेप में इस योजना को यों प्रकट किया जा सकता है। कल्पना करो कि अमुक प्रदेश में तमाम जमीन दो भू-स्वामियों के अधिकार में है। उनमें से एक धनवान है और विदेशों में रहता है और दूसरा ग़रीब है और घर पर रह कर खेती-बाड़ी करता है। और सौ किसान ऐसे हैं जिनके हिस्से में थोड़ी-थोड़ी जमीन आई है। इसके अलावा इस प्रदेश में मजदूरी करने वाले लोग और कारीगर, व्यापारी, राज्य-कर्मचारी आदि सैंकड़ों लोग ऐसे रहते हैं, जिनके पास कोई जमीन नहीं है। कल्पना करो कि इस प्रदेश के तमाम लोग फैसला करते हैं कि जमीन सार्वजनिक सम्पत्ति होनी चाहिए। उस दशा में उसका बंटवारा कैसे करेंगे ?

जिनके अधिकार में जमीन है, उनसे जमीन लेकर हरेक को अपनी मर्जी के मुताबिक जमीन का उपयोग करने देना व्यावहारिक न होगा, क्योंकि उस दशा में एक ही जमीन को कई लोग एक साथ लेना चाहेंगे और फलस्वरूप आपस के अन्य झगड़े उठ खड़े होंगे। सब लोग मिल कर खेती करें और बाद में पैदावार का बंटवारा करलें, यह सुविधाजनक न होगा, क्योंकि कुछ के पास हल, बैल, गाड़े आदि होंगे और कुछ बिल्कुल कोरे होंगे। इसके अलावा कुछ लोगों को खेती का अनुभव और

ज्ञान भी न होगा। मनुष्यों की संख्या के अनुसार बराबर जमीन को बांटना बहुत कठिन होगा। यदि जमीन को इस प्रकार बांटा जाय कि अच्छी, साधारण और बंजर भूमि बराबर हिस्सों में हरेक को मिल जाय तो जमीन के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े हो जायगे।

इसके अलावा इस प्रकार का बंटवारा ख़तरे से खाली न होगा। कारण, जो काम न करना चाहेंगे या अत्यधिक ग़रीब होंगे, रुपये की ख़ातिर अपनी ज़मीन धनवानों के हाथ बेच देंगे और फिर बड़े-बड़े जमींदार और ताल्लुकेदार पैदा हो जायंगे। इस लिए इस प्रदेश के लोग निर्णय करते हैं कि ज़मीन को उन्हीं लोगों के अधिकार में रहने दिया जाय जिनके अधिकार में वह चली आरही है और यह तय किया जाय कि भूस्वामी राष्ट्रीय कोष में एक निश्चित रक़म दिया करें जो उस जमीन की आमदनी के अनुसार हो। यह रक़म जमीन पर की गई मेहनत के अनुसार नहीं, बल्कि ज़मीन की अपनी हैसियत के अनुसार निर्धारित की जाय। इस प्रकार जो आमदनी होती है, इसको वे आपस में बांट लेते हैं।

किन्तु भू-स्वामियों से इस प्रकार रुपया इकट्ठा करना और उसको सब लोगों में बराबर बांटना पेचीदा काम है। फिर सब लोग सार्वजनिक आवश्यकताओं अर्थात् स्कूलों, मन्दिरों, आग बुझाने के इंजिनों, ग्वालों, सड़कों की मरम्मत आदि के लिए टैक्स देते हैं और यह रुपया सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काफी नहीं होता, इसलिए इस प्रदेश के निवासियों ने फैसला किया कि ज़मीन की आमदनी का रुपया इकट्ठा करने और उसको बराबर बांटने के बजाय तथा फिर उसका कुछ हिस्सा टैक्सों के रूप में वसूल करने के बजाय ज़मीन की आमदनी सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए खर्च की जाय। यह व्यवस्था करने के बाद उस प्रदेश के लोग अधिक भूमि रखने वालों से अधिक और कम भूमि रखने वालों से कम पैसा मांगते हैं, और कुछ लोग जिनके पास कुछ जमीन नहीं है, कुछ नहीं मांगते। और उन्हें उन सुविधाओं

का लाभ उठाने देते हैं जो जमीन के लगान की रक़म से सुलभ की गई है।

इस व्यवस्था का यह नतीजा होता है कि जो भू-स्वामी अपनी जमीन पर नहीं रहता और उससे बहुत थोड़ा पैदा करता है, जमीन को अपने कब्जे में रखना लाभदायक नहीं समझता और उससे इस्तीफ़ा दे देता है। इसके विपरीत दूसरा भूस्वामी, जो अच्छा किसान भी है, अपनी जमीन का कुछ हिस्सा छोड़ता है और अपने पास उतनी ही जमीन रखता है जितनी से वह टैक्स की रक़म से कुछ अधिक पैदा कर सके।

जिन किसानों के पास थोड़ी जमीन है, जिनके पास काम करने वाले ज्यादा और जमीन कम है और जिनके पास जमीन नहीं है, पर जो खेती-बाड़ी द्वारा अपना भरण-पोषण करना चाहते हैं, वे सब भू-स्वामियों द्वारा छोड़ी हुई जमीन ले लेते हैं। इस प्रकार इस योजना के अनुसार इस प्रदेश के तमाम लोगों को जमीन पर रहने और उससे भरण-पोषण प्राप्त करने का अवसर मिल जाता है और तमाम जमीन उन लोगों के अधिकार में चली जाती है जो खेती करना पसन्द करते हैं और उसके द्वारा अधिक उत्पादन कर सकते हैं। इसके अलावा सार्वजनिक संस्थाओं की अवस्था सुधर जाती है, कारण सार्वजनिक आवश्यकताओं के लिए पहले से अधिक रुपया मिलने लगता है। और सब से बड़ी बात यह होती है कि भूमि-अधिकार सम्बंधी यह परिवर्तन बिना किसी लड़ाई-झगड़े और खून-खराबी के हो जाता है; जमीन को वे लोग स्वतः छोड़ देते हैं जो उसको मुनाफे के साथ जोत-बो नहीं सकते। यह है हेनरी जार्ज की योजना, जिसको विभिन्न देश अथवा सारी दुनिया अपना सकती है।

अब मैं संक्षेप में अपने कथन को दुहराता हूँ। मेरी श्रमजीवियों को सलाह है कि तुम पहले अपनी आवश्यकता को साफ-साफ समझो और जिसकी तुमको आवश्यकता नहीं है, उसके लिए परेशानी मत उठाओ। तुमको एक ही चीज की आवश्यकता है और वह है स्वतंत्र जमीन जिसपर तुम रह सको और अपना भरण-पोषण कर सको।

दूसरे, मेरी सलाह यह है कि तुम साफ-साफ समझ लो कि किन साधनों से तुमको अपनी ज़मीन की ज़रूरत पूरी करनी है। दंगा-फ़साद करके,—परमात्मा तुमको उससे बचाए—प्रदर्शन कर के, हड़ताल करके, धारा-सभाओं में समाजवादी प्रतिनिधि भेज करके तुम अपना उद्देश्य सिद्ध नहीं कर सकते। वह तभी सफल होगा, जब तुम, जिसको बुरा कार्य समझते हो, उसमें सहयोग न दो; अर्थात् तुम हिंसा में सहयोग देकर या भूस्वामियों के खेतों पर मजदूरी कर के या उनके खेत लगान पर लेकर ज़मीन की व्यक्तिगत मिल्कियत के अन्याय का समर्थन न करो।

तीसरी सलाह मेरी यह है कि तुम पहले से ही सोच लो कि जब जमीन स्वतंत्र होगी तो तुम उसको किस प्रकार बांटोगे। इस पर ठीक-ठीक विचार करने के लिए तुम को यह न समझना चाहिए कि जिस जमीन को भूस्वामी छोड़ेंगे, वह तुम्हारी हो जायगी। तुमको तो यह समझ लेना है कि जमीन का उपयोग तभी न्यायपूर्ण हो सकता है और वह सब मनुष्यों में निष्पक्ष रीति से बांटी जा सकती है जब जमीन पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार न स्वीकार किया जाय, चाहे वह एक गज टुकड़ा ही क्यों न हो। सूरज की गरमी और हवा की भांति जमीन को भी सब मनुष्यों की सम्पत्ति मानने के बाद ही तुम बिना किसी भेद-भाव के न्याय-पूर्वक जमीन को विद्यमान योजनाओं अथवा किसी नई योजना के अनु-सार सब लोगों में बांट सकोगे।

चौथी बात सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। मेरी तुमको सलाह है कि अपनी जरूरतों को पूरी करने के लिए दंगों, क्रान्तियों और समाजवादी हलचलों द्वारा शासक वर्ग से लड़ाई मत ठानो, बल्कि अपने जीवन को सुधारो। लोगों की हालत इसलिए बुरी है कि वे बुरी तरह जीवन बिताते हैं। और मनुष्यों के लिए इससे बढ़कर हानिकर और कोई विचार नहीं हो सकता कि उनकी दुरवस्था के कारण वे खुद नहीं हैं, बल्कि बाहरी परिस्थितियां हैं। यदि मनुष्य अथवा मनुष्य समाज यह समझता है कि बाह्य परिस्थितियां उसके कष्टों के लिए जिम्मेदार हैं और उन परि-

स्थितियों को बदलने की चेष्टा करता है तो उसके कष्टों में और वृद्धि ही होती है। किन्तु यदि वह अपने अन्तर की ओर मुड़ता है और अपने कष्टों के कारणों को अपने और अपने जीवन के भीतर खोजता है तो शीघ्र इन कारणों का पता लग जायगा और वे स्वयमेव मिट जायंगे।

"पहले तू ईश्वर के राज्य और सत्य की खोज कर; शेष सब अपने आप हो जायगा।" (बाइबिल) यह मानव जीवन का मूल नियम है। बुरा जीवन बिताओ, ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध, और तुम हजार कोशिश करो अपनी अवस्था सुधारने की; कोई नतीजा नहीं निकलेगा। सद् जीवन बिताओ, नैतिकता का खयाल रखो और ईश्वर की इच्छा का अनुसरण करो और सुख की कोई चिन्ता न करो; वह तुमको अपने-आप प्राप्त हो जायगा और यह इस तरह होगा कि जिसकी तुमने कल्पना भी न की होगी। यह बड़ा स्वाभाविक और आसान मालूम पड़ता है कि हम दर्वाजे को तोड़ कर भीतर घुस जायं, जिसके भीतर हमारे मन का स्वर्ग बसा है। यह इसलिए भी हमको आवश्यक मालूम होता है कि हमारे पीछे लोगों की भीड़ जमा है जो हमको दबाये जा रही है और दर्वाजे की ओर धकेल रही है। किन्तु दर्वाजे को तोड़ने की हम जितनी ही कोशिश करते हैं, उतना ही हमारे लिए उसके भीतर घुसना कठिन होता जाता है। दर्वाजे के द्वार सामने नहीं, हमारी अपनी ओर हैं।

अतः सुख की खोज में मनुष्य को बाहरी परिस्थितियों को सुधारने की चिन्ता न करके खुद को सुधारने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि वह बुराई कर रहा है तो उसे उससे विरत होना चाहिए और यदि वह भलाई नहीं कर रहा तो उसे करना शुरू कर देना चाहिए। सच्चे सुख के तमाम दर्वाजे हमेशा मनुष्य के अन्तर की ओर ही खुला करते हैं।

यदि तुम यह समझ लेते हो कि तुम्हारी वास्तविक भलाई के लिए तुम को ईश्वरीय नियम के अनुसार आचरण करना है, भाई-चारे का जीवन बिताना है, दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना है जैसा तुम अपने साथ चाहते हो—और जिस अंश में तुम इस तथ्य को समझोगे

और समझने के बाद उस पर आचरण करोगे, उसी अंश में तुमको वह सुख प्राप्त होगा, जिसकी तुम कामना करते हो और तुम्हारी गुलामी का खात्मा हो जायगा।

"तुम सत्य को पहचानो और वही तुम को मुक्ति देगा।"

: ७ :

उद्धार का उपाय

दूसरों से जिस व्यवहार की आशा रखते हो, वही तुम उनके साथ भी करो, क्योंकि कानून और ईश्वर का यही आदेश है।

—बाइबिल

"आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत्।"

दुनिया में श्रमजीवियों की संख्या एक अरब से भी अधिक है। खाने-पीने की तमाम सामग्री और संसार की समस्त चीजें, जिनपर मनुष्यों का जीवन निर्भर है और जिनसे लोग अमीर बने हुए हैं, श्रमजीवी पैदा करते हैं। किन्तु वे जो कुछ पैदा करते हैं उसका लाभ वे स्वयं नहीं उठाते, राज्यकर्ता और धनवान उसका फायदा उठाते हैं। इसके विपरीत श्रमजीवी हमेशा ग़रीबी, अज्ञान और गुलामी के शिकार बने रहते हैं। और उनको उन्हीं लोगों के हाथों अनादर सहन करना पड़ता है, जिनके लिए वे भोजन, वस्त्र और अन्य सुख-साधन सुलभ करते हैं।

ज़मीन श्रमजीवियों के हाथ से छीनकर उन लोगों की सम्पत्ति मानी जाती है जो उसपर श्रम नहीं करते। इसका नतीजा यह होता है कि खेती करने वालों को अपना पेट भरने के लिए ज़मीन के कथित मालिकों की हर आज्ञा का पालन करना पड़ता है। यदि श्रमजीवी ज़मीन को छोड़कर नौकरी करता है या किसी मिल अथवा कारखाने में काम करने लगता है तो वह अन्य धनवानों का गुलाम बन जाता है। उसको जिंदगी भर दस, बारह, चौदह अथवा इससे भी अधिक घण्टे प्रतिदिन काम करना पड़ता है। यह काम उसके लिए अपरिचित, नीरस, कठोर और बहुधा

स्वास्थ्य और जीवन के लिए हानिकर होता है। यदि उसको खेती करने की सुविधा मिल जाती है अथवा पेट भरने लायक काम मिल जाता है तो उसको टैक्स देने पड़ते हैं। इसके अलावा कुछ देशों में उसको या तो तीन-चार या पांच साल तक फौज में नौकरी करनी पड़ती है या फौज के खर्च के लिए टैक्स देने पड़ते हैं। यदि वह बिना कर दिये जमीन को उपयोग में लाने की कोशिश करे, हड़ताल करे, या दूसरे श्रमजीवियों को अपने स्थान पर काम करने से रोके, या टैक्स देने से इन्कार करे तो उसे राज्य की सारी ताकत का सामना करना पड़ता है। वह घायल होता है, मारा जाता है और पहले की भांति काम करने और टैक्स देने के लिए विवश होता है।

इस प्रकार दुनिया में सर्वत्र श्रमजीवी मनुष्यों का-सा नहीं, बल्कि बोझा ढोने वाले पशुओं का-सा जीवन व्यतीत करते हैं। उनको जीवन भर वह काम करना पड़ता है, जिसकी उनको नहीं, बल्कि उनके उत्पीड़कों को आवश्यकता होती है और बदले में उनको इतना भोजन वस्त्र मिल जाता है कि वे अनवरत काम करते रहें। इसके विपरीत श्रमजीवियों पर शासन करने वाले लोगों का एक अल्प समुदाय, जो उनके उत्पादन से लाभ उठाता है, आलस्य और भोग-विलास का जीवन बिताता है और करोड़ों के परिश्रम को बेकार और अनीतिपूर्वक बर्बाद करता है।

मास्को में द्वितीय निकोलस के राज्याभिषेक के समय लोगों को शराब और लड्डू बांटे गए। जहां ये चीजें बांटी जा रही थी, लोगों की जबर्दस्त भीड़ जमा हो गई। पीछे वालों ने आगे वालों को और उनसे पीछे वालों ने उनको धक्का देना और कुचलना शुरू किया। किसी ने यह नहीं देखा कि आगे क्या हो रहा है। बलवानों ने कमजोरों को एक ओर धकेल दिया और बलवान भी भीड़ की गर्मी और वायु की कमी के मारे दम घुट कर जमीन पर गिर पड़े और पीछे वालों द्वारा कुचल दिये गए, क्योंकि उनको भी उनसे पीछे वाले धकेल रहे थे और वे रुक नहीं सकते थे। इस प्रकार कई हजार आदमी, जिनमें बूढ़े और जवान, स्त्री

और पुरुष सभी थे, मौत के ग्रास बन गए।

जब यह सारा काण्ड समाप्त हो गया तो लोग दलील करने लगे कि उसके लिए दोषी कौन? कुछ ने पुलिस को दोषी बताया और कुछ ने ज़ार को अपराधी बताया, जिसने ऐसे मूर्खतापूर्ण भोजन का आयोजन किया। किन्तु सच बात यह है कि दोष स्वयं उन लोगों का था जो दो-चार लड्डुओं और शराब की एक-एक बोतल अपने पड़ौसियों से पहले पाने की खातिर दूसरे लोगों का ज़रा भी ख़याल किये बिना आगे झपट पड़े और धक्का-मुक्की करके उन्हें कुचल डाला।

श्रमजीवी जगत में भी क्या ठीक यही बात नहीं हो रही है? वे शक्ति-हीन, पद्दलित और गुलाम सिर्फ इसलिए हो रहे हैं कि नगण्य लाभ के लिए वे अपने और अपने भाइयों का जीवन बर्बाद कर देते हैं।

श्रमजीवी भूस्वामियों, शासकों और कारख़ानों के मालिकों की शिकायत करते हैं। किन्तु भूस्वामियों द्वारा जमीन का शोषण, शासकों द्वारा टैक्सों की वसूली, कारख़ानों के मालिकों द्वारा श्रमजीवियों का शोषण और फौजों द्वारा हड़तालों का दमन तभी सम्भव होता है जब श्रमजीवी स्वयं उन सबको मदद पहुँचाते हैं और जिन बातों की वे शिकायत करते हैं उनको वे स्वयं करते हैं। यदि कोई भूस्वामी खुद खेती न करके हजारों एकड़ जमीन से लाभ उठाता है तो इसका कारण यही है कि श्रमजीवी अपने ही लाभ की खातिर उस भू-स्वामी का काम करते हैं, उसके पहरेदार, क्लर्क और प्रबन्धक बनते हैं। इसी प्रकार राज्य-तंत्र उनसे टैक्स तभी वसूल कर पाता है जब वे तनख्वाहों के लोभ में आकर, जिनकी रक़म उनके पास से ही जमा होती है, पटेल, पटवारी, पुलिस के सिपाही, आबकारी और कस्टम के कर्मचारी बनते हैं और इस प्रकार वही काम करने में मदद देते हैं, जिसकी उन्हें शिकायत होती है। श्रमजीवी इस बात की भी शिकायत करते हैं कि कारखानों के मालिक उनको मज़दूरी कम कर देते हैं और उन्हें ज्यादा से ज्यादा घण्टे काम करने के लिए मजबूर करते हैं, किन्तु यह भी तभी सम्भव होता है जब श्रमजीवी आपस

में प्रतिस्पर्द्धा कर के खुद ही अपनी मज़दूरी घटा लेते हैं और गोदाम रक्षक, निरीक्षक, पहरेदार और मुख्य कर्मचारी की हैसियत से कारखानों के मालिकों के नौकर बन जाते हैं। वे अपने मालिकों के लाभ के लिए अपने साथियों को हर तरह सताते हैं, उनकी तलाशियां लेते हैं, उनपर जुर्माने करते हैं।

श्रमजीवियों को शिकायत है कि यदि वे उस ज़मीन पर जो खुद उनकी है कब्जा करने की कोशिश करते हैं, या वे टैक्स नहीं देते या हड़तालें करते हैं तो उनके विरुद्ध फौजें भेज दी जाती हैं। किन्तु इन फौजों में सैनिक वही श्रमजीवी होते हैं जो व्यक्तिगत लाभ की खातिर या दण्ड के भय से सेना में भर्ती होते हैं और अपने अन्तःकरण और ईश्वरीय नियम के विपरीत यह शपथ लेते हैं कि वे उन सब को मारेंगे, जिनको मारने की उन्हें आज्ञा दी जायगी।

इस प्रकार अपनी सारी मुसीबतों के लिए श्रमजीवी स्वयं ही जिम्मेदार हैं। जरूरत सिर्फ इस बात की है कि वे अपने उत्पीड़कों की सहायता करना बन्द कर दें और उनके तमाम कष्ट स्वयमेव समाप्त हो जायंगे।

तब वे ऐसे काम क्यों करते हैं, जो उनको बर्बाद कर देते हैं ?

दो हजार वर्ष पूर्व एक महापुरुष ने लोगों को इस ईश्वरीय नियम का उपदेश दिया था कि—"मनुष्य को दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा कि वह चाहता है कि दूसरे उसके साथ करें।" इसको हम सम-आचरण का नियम भी कह सकते हैं। चीनी महापुरुष कन्फ्यूशस ने इसी नियम को यों कहा है—'दूसरों के साथ वह व्यवहार न करो जो तुम नहीं चाहते कि दूसरे लोग तुम्हारे साथ करें।'

यह नियम सरल और हरेक मनुष्य की समझ में आने योग्य है और स्पष्टतः उसके द्वारा मनुष्य का सब से अधिक हित हो सकता है। और इसलिए इस नियम का ज्ञान होते ही मनुष्यों को यथासम्भव तुरन्त उस पर अमल शुरू कर देना चाहिए और भावी पीढ़ी को उसकी शिक्षा देने और उसका पालन करवाने में अपनी समस्त शक्ति खर्च कर देना चाहिए।

मनुष्यों को बहुत पहले से इस नियम का पालन शुरू कर देना चाहिए था। कारण, कन्फ्यूशस और बुद्ध, यहूदी धर्माचार्य हिलेल और ईसाने प्रायः एक ही समय में इसका उपदेश दिया था। खास कर ईसाई जगत के लिए तो इसका पालन करना आवश्यक था, क्योंकि वह बाइबिल को अपना धर्म ग्रन्थ स्वीकार करता है जिसमें कहा गया है कि यह नियम सब नियमों का सार है, अर्थात् उसमें वह सब शिक्षा भरी पड़ी है जो मनुष्य के लिए आवश्यक हो सकती है।

किन्तु हजारों वर्ष बीत जाने पर भी मनुष्यों ने न तो स्वयं इस नियम का पालन किया और न अपनी सन्तान को उसकी शिक्षा दी। अधिकतर मनुष्य तो इस नियम को जानते ही नहीं, और यदि जानते भी हैं तो उसको अनावश्यक और अव्यावहारिक समझते हैं।

शुरू में यह बात अजीब-सी मालूम देती है। किन्तु जब हम इस बात पर विचार करते हैं कि इस नियम का पता लगाने के पहले लोग किस प्रकार रहते थे और उस दशा में वे कितने अर्से तक रहे और यह नियम आधुनिक मनुष्य जीवन से कितना भिन्न है, तो हम यह समझने लगते हैं कि इस नियम का पालन क्यों नहीं हुआ।

बात यह हुई कि मनुष्यों को इस नियम का पता न था कि सब लोगों के कल्याण के लिए हरेक आदमी को दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसा वह दूसरों से अपेक्षा रखता है और इसलिए हरेक आदमी ने अपने लाभ की खातिर दूसरे मनुष्यों पर अधिक-से-अधिक सत्ता प्राप्त करने की कोशिश की और यह सत्ता प्राप्त करने के बाद बिना किसी रोक-टोक के उससे लाभ उठाने के लिए उसको अपने से अधिक बलवानों के अधीन हो जाना पड़ा और उनकी सहायता करनी पड़ी। इसी प्रकार इन बलवान व्यक्तियों को अपने से अधिक बलवान व्यक्तियों की शरण में जाना पड़ा।

इस प्रकार जो समाज सम-आचरण के इस नियम से परिचित नहीं होता, अर्थात् दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना, जैसा कि हम

चाहते हैं कि दूसरे लोग हमारे साथ करें, उसमें हमेशा मुट्ठी भर लोग बाकी आदमियों पर शासन किया करते हैं। और इस लिए यह समझ में आ जाता है कि जब मनुष्यों को इस नियम का ज्ञान कराया गया तो वे मुट्ठी भर लोग, जो शेष समाज पर अधिकारारूढ़ थे, न केवल स्वयं इस नियम को मानने को तैयार नहीं हुए बल्कि उनको यह भी गवारा न हुआ कि उनके अधीनस्थ इस नियम को जानें और उस पर अमल करें।

अधिकारारूढ़ मुट्ठी भर लोग जानते थे और अच्छी तरह जानते हैं कि उनकी सत्ता का आधार ही इस बात पर है कि उनके अधीनस्थ लोग निरन्तर आपस में लड़ते रहें और एक दूसरे को गुलाम बनाने की कोशिश करते रहें। और इसलिए उन्होंने हमेशा इस बात का प्रयत्न किया कि अधीनस्थ लोगों को इस नियम का पता न चले और अब भी उनकी यही कोशिश रहती है। वे इस नियम को अस्वीकार नहीं करते, क्योंकि वह इतना स्पष्ट और सरल है कि उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। किन्तु वे अन्य सैंकड़ों नियमों को सामने रखते हैं और कहते हैं कि ये नियम सम-आचरण के नियम से अधिक महत्वपूर्ण और माननीय हैं। इस प्रकार वे इस नियम पर पर्दा डालते हैं। धर्माचार्य धर्म का नाम लेकर सैंकड़ों प्रकार के विधान करते हैं जिनका सम-आचरण के इस नियम से कोई मेल नहीं बैठता। उनको वे सबसे अधिक महत्वपूर्ण ईश्वरीय नियम बताते हैं और कहते हैं कि यदि उनका पालन न किया गया तो अनन्त काल तक नरक भोगना पड़ेगा। शासक लोग धर्माचार्यों की शिक्षा का उपयोग करते हैं। उसके आधार पर राजकीय नियमों का निर्माण करते हैं जो सम-आचरण के नियम के सर्वथा प्रतिकूल होते हैं। वे इन नियमों का डण्डे के जोर से पालन करवाते हैं।

इसके बाद पढ़े-लिखों और धनवानों की एक श्रेणी होती है। इस श्रेणी के लोग न ईश्वर को मानते हैं और न किसी ईश्वरीय नियम को। वे कहते हैं कि संसार में यदि कुछ है तो विज्ञान और उसके नियम, जिनकी पढ़े-लिखे लोग खोज करते हैं और जिनको केवल धनिक जानते

हैं। वे कहते हैं कि सब लोगों के हित के लिए यह आवश्यक है कि लोग उनके जैसा आलसी जीवन बितावें यानी स्कूलों में जायं, व्याख्यान सुनें, नाटक-सिनेमा देखें, सभाओं में जायं आदि-आदि। उनका कहना है कि इसके उपरान्त उन सब कष्टों का स्वयमेव अन्त हो जायगा, जिनसे श्रमजीवी आज पीड़ित हैं।

इन लोगों में से कोई भी उस स्वर्ण नियम का खण्डन नहीं करता, किन्तु साथ-साथ वे इतने धार्मिक, राजकीय और वैज्ञानिक नियम आगे धर देते हैं कि उनके बीच वह सरल, स्पष्ट और सर्व-सुलभ ईश्वरीय-नियम, जिसके पालन से अधिकांश मनुष्यों के कष्टों का अन्त हो सकता है, न केवल अगोचर बल्कि लुप्त हो जाता है।

यही कारण है उस आश्चर्यजनक स्थिति का, जिसमें श्रमजीवी शासकों और धनिकों द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी पद्दलित होते रहने पर भी अपने और अपने दूसरे भाइयों का जीवन बर्बाद करते रहते हैं, अपने उद्धार के लिए अत्यन्त पेचीदा, चतुराईपूर्ण और विविध उपायों का अवलम्बन करते हैं अर्थात् प्रार्थनायें करते हैं, देवताओं के भेंट-पूजा चढ़ाते हैं, राजकीय नियमों का सिर झुका कर पालन करते हैं, सभायें करते हैं, संस्थायें बनाते हैं, श्रमजीवी संघ क़ायम करते हैं, हड़तालें करते हैं और क्रान्तियां करते हैं। किन्तु वे उस एक-मात्र उपाय का यानी ईश्वरीय नियम का सहारा नहीं लेते जो निश्चय ही उनके समस्त कष्टों को दूर कर सकता है।

जो लोग धार्मिक, राजनैतिक और वैज्ञानिक दलीलों के जाल के अभ्यस्त हैं, वे कहेंगे—"किन्तु क्या यह सम्भव है कि इस सरल और संक्षिप्त कथन में तमाम ईश्वरीय नियम और मनुष्य के जीवन का पथ-प्रदर्शन भरा पड़ा है।" यह लोग समझ बैठे हैं कि ईश्वरीय नियम और मनुष्य जीवन का पथ-प्रदर्शन पेचीदा सिद्धान्तों में निहित होना चाहिए और इसलिए वह इतने संक्षिप्त और सरल कथन में प्रकट नहीं किया जा सकता।

यह सच है कि सम-आचरण का यह नियम बहुत संक्षिप्त और

सरल है, किन्तु उसकी संक्षिप्तता और सरलता ही यह सिद्ध करती है कि वह निर्विवाद, शाश्वत, सत्य और न्यायपूर्ण नियम है। यह नियम समस्त मानव-समाज के हजारों वर्षों के अनुभव का निचोड़ है; वह किसी एक सम्प्रदाय, राज्य अथवा विज्ञानवादी दल के मस्तिष्क की उपज नहीं है। सृष्टि के आरम्भ विषयक धार्मिक कल्पनाओं और धारा सभाओं, सर्वोपरि सत्ता, दण्ड, सम्पत्ति और मूल्य का सिद्धान्त, विज्ञान का वर्गीकरण आदि-आदि विषयों की चर्चाओं में बड़ी गम्भीरता और बुद्धिमत्ता हो सकती है, किन्तु उनका उपयोग सिर्फ मुट्ठी भर लोगों के लिए है। इसके विपरीत यह नियम, कि दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा कि तुम दूसरों से अपने लिए चाहते हो, सर्व-सुलभ है और जाति, धर्म, शिक्षा और उम्र का उस पर कोई असर नहीं पड़ता।

इसके अलावा जो धार्मिक, राजनैतिक और वैज्ञानिक दलीलें एक समय और एक स्थान में सही मानी जाती हैं, वही दूसरे समय और दूसरे स्थान पर ग़लत मानी जाती हैं। किन्तु सम-आचरण का यह नियम सर्वत्र सही माना जाता है और उसको एक बार समझ लेने वालों के लिए कभी ग़लत नहीं हो सकता। किन्तु इस नियम में और अन्य नियमों में मुख्य अन्तर और खास लाभ यह है कि धार्मिक, राजनैतिक और वैज्ञानिक नियम मनुष्यों को सन्तोष नहीं देते और न उनका हित-साधन कर सकते हैं। यही नहीं, उनसे बहुधा भारी शत्रुता और मुसीबत पैदा हो जाती है।

किन्तु दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करना, जैसा कि दूसरों से हम अपने लिए चाहते हैं या दूसरों के साथ वैसा व्यवहार न करना, जैसा हम अपने लिए नहीं चाहते—यदि इस नियम को हम स्वीकार कर लें तो उससे सद्भावना और हित-साधन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। और इसलिए इस नियम के परिणाम बेहद लाभकारी और विविध होंगे। उससे मनुष्यों के तमाम पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित हो जायंगे और सर्वत्र विद्वेष और संघर्ष के स्थान पर सद्भावना और सेवा

का राज्य हो जायगा। यदि लोग उस माया जाल से मुक्त हो जायं, जिसने उनकी दृष्टि से इस नियम को छिपाया हुआ है, उसकी अनिवार्यता को स्वीकार करलें और जीवन में उस पर आचरण करें तो एक नये ही विज्ञान का जन्म हो जाय, जो सर्वसाधारण की सम्पत्ति होगा और दुनिया में सब से अधिक महत्वपूर्ण होगा। यह विज्ञान बतायेगा कि इस नियम के आधार पर किस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों एवं व्यक्तियों और समाज के तमाम संघर्षों का अन्त किया जा सकता है। और यदि इस नवीन विज्ञान का जन्म और विकास हो जाय और जिस प्रकार आज-कल हानिकर अन्ध-विश्वासों और बहुधा बेकार या हानिकर विज्ञानों की शिक्षा दी जाती है, उसी प्रकार उसकी भी तमाम जनता और बालकों को शिक्षा दी जाय तो मनुष्य का सारा जीवन ही बदल जायगा और साथ ही उस कष्टमय वातावरण का भी अन्त हो जायगा, जिसका अधिकांश मानव-समाज आज शिकार बना हुआ है।

बाइबिल की परम्परा का यह दावा है कि सम-आचरण का नियम प्रकट होने से बहुत पहले परमात्मा ने मनुष्यों के लिए अपना क़ानून बनाया। इस क़ानून में यह आदेश भी शामिल था कि "किसी को मारो मत।" यह आदेश अपने आरम्भ काल में सम-आचरण के नियम के समान ही महत्व-पूर्ण और परिणामकारी था, किन्तु उसकी भी वही दशा हुई, जो पिछले नियम की। यद्यपि लोगों ने उसका प्रत्यक्ष रीति से खण्डन नहीं किया, किन्तु पिछले नियम की भाँति वह भी अन्य विधि-विधानों के जमघट में लुप्त हो गया, और यह विधि-विधान मानव जीवन की अखण्डनीयता के नियम जितने ही या उससे भी अधिक महत्वपूर्ण समझे जाने लगे। यदि केवल यही एक आदेश हुआ होता कि—'तू किसी को न मार' तो मनुष्यों को मानना पड़ता कि यह नियम अपरि-वर्तनीय और अनिवार्य है और उसकी जगह और कोई नहीं ले सकता। यदि मनुष्य केवल इसी ईश्वरीय नियम को स्वीकार कर लें और उसका कड़ाई के साथ पालन करें, कम-से-कम उतनी कड़ाई के साथ, जितनी

कड़ाई के साथ कि वे पूजा-पाठ, सन्ध्या-हवन आदि नियमों का पालन करते हैं तो मानव जाति का सारा जीवन ही बदल जाय। न युद्धों की और न गुलामी की सम्भावना रह जाय, न धनवान ग़रीबों से उनकी ज़मीन का अपहरण कर पायें और न मुट्ठी भर लोग अधिकतर लोगों की मेहनत का फल हड़प सकें। यह सब तभी तक होता है जब तक कि मरने की सम्भावना रहती है अथवा मारने का भय बना हुआ रहता है।

'किसी को मारो मत'—यदि इसको एक मात्र ईश्वरीय-नियम मान लिया जाय तो मानव जाति की अवस्था वही हो सकती है जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है। किन्तु जब संध्या करने, हवन करने और इस प्रकार की अन्य आज्ञाओं को इस नियम के बराबर महत्वपूर्ण मान लिया गया तो धर्माचार्यों ने और भी नये-नये नियम बना डाले और उनको भी उतना ही माननीय समझा जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि परमात्मा का सब से बड़ा आदेश—किसी को मारो मत—उन नियमों के सागर में डूब गया और लोगों ने उसको हर अवस्था में अनिवार्य समझना छोड़ दिया। ऐसे भी उदाहरण सामने आये कि लोगों ने उसके बिल्कुल विपरीत आचरण किया। यही बात सम-आचरण के नियम के सम्बन्ध में भी हुई।

इस प्रकार बुराई की जड़ यह नहीं रही कि मनुष्य ईश्वर के असली नियम को नहीं जानते। बुराई की असली जड़ तो वे लोग हैं जो असली नियम का ज्ञान और पालन अपने लिए असुविधाजनक समझते हैं। यह लोग उसको नष्ट नहीं कर सकते और न उसका खण्डन कर सकते हैं और इसलिए नये-नये नियम बनाते हैं और कहते हैं कि ये 'नियम उतने ही माननीय हैं अथवा परमात्मा के असली नियम से भी ज्यादा माननीय हैं। मनुष्यों को उनके कष्टों से मुक्ति दिलाने के लिए अब सिर्फ यही आवश्यक है कि वे अपने को उन सब धार्मिक, राजकीय और वैज्ञानिक अन्ध-विश्वासों से मुक्त कर लें जिनको अनिवार्य जीवन-नियम के रूप में हमारे आगे पेश किया जाता है। इस प्रकार मुक्त हो जाने

पर वे स्वभावतः अन्य विधि-विधानों की अपेक्षा उस वास्तविक और शाश्वत ईश्वरीय-नियम को अधिक माननीय समझेंगे जो केवल मुट्ठी पर व्यक्तियों को नहीं, बल्कि दुनिया भर में तमाम मनुष्यों को सब से अधिक सुख पहुंचाने की क्षमता रखता है।

श्रमजीवियों को अपने अन्तःकरण की शुद्धि करना चाहिए, ताकि राज्य-तंत्र और धनिक उनके जीवन को हड़पना बन्द कर दें। पाप गन्दगी में ही पैदा होता है, और उसको ऐसे अनजान लोगों से तभीतक पोषण मिलता है जब तक वे अस्वच्छ रहते हैं। इसलिए श्रमजीवियों के लिए संकटों से बचने का एक ही मार्ग है और वह यह कि वे अपनी आत्म-शुद्धि करें। इस शुद्धि के लिए यह आवश्यक है कि वे धार्मिक, राजकीय और वैज्ञानिक अन्ध-विश्वासों से मुक्त हों। यह भी आवश्यक है कि वे ईश्वर और ईश्वरीय नियमों में विश्वास रखें। इसी में उनकी मुक्ति का एक मात्र उपाय निहित है।

इस समय हम को दो प्रकार के श्रमजीवी मिलते हैं—एक तो शिक्षित और दूसरे साधारण श्रेणी के, जो प्रायः अशिक्षित होते हैं। दोनों के दिलों में वर्तमान अवस्था के विरुद्ध तीव्र असन्तोष होता है। शिक्षित श्रमजीवी ईश्वर और ईश्वरीय नियम में विश्वास नहीं करता, वह केवल मार्क्स आदि साम्यवाद के प्रवर्तकों को मानता है। वह धारासभाओं में अपने प्रतिनिधियों की हलचलों का अनुशीलन करता है। वह भू-स्वामियों द्वारा ज़मीन और श्रम के साधन हड़प लिये जाने और विरासत के क़ानून के विरुद्ध जोशीले भाषण देता है। इसके विपरीत अशिक्षित श्रमजीवी को यद्यपि इन सिद्धान्तों का ज्ञान नहीं होता और वह धार्मिक परम्परा में विश्वास रखता है, किन्तु उसके दिल में भी भू-स्वामियों और पूंजीपतियों के विरुद्ध शिक्षित श्रमजीवी जितना ही गुस्सा भरा रहता है और वर्तमान समाज संगठन को बिल्कुल ग़लत समझता है। किन्तु शिक्षित अथवा अशिक्षित किसी भी श्रमजीवी को यदि ऐसा अवसर मिले कि दूसरों की अपेक्षा सस्ती चीजें पैदा करने से उसकी हालत सुधर सकती है, तो उससे

चाहे सैंकड़ों, हज़ारों साथियों का अनिष्ट ही क्यों न होता हो, वह ९९ प्रतिशत उस मौके का लाभ उठाये बिना न रहेगा अथवा उसको किसी पूंजीपति के यहां बड़े वेतन पर नौकरी मिल जाय, अथवा वह ज़मीन खरीद ले या मज़दूरों के ज़रिये किसी व्यवसाय का संगठन कर सके तो वह बिना किसी हिचकिचाहट के यह काम करने को उद्यत हो जायगा और मालिक की हैसियत से अपने विशेष अधिकारों का जन्मजात भूस्वामियों और पूंजीपतियों से भी ज्यादा ज़ोरों के साथ समर्थन करेगा।

और हिंसा के काम में सहयोग देने की बात तो न केवल नैतिक दृष्टि से ग़लत है बल्कि श्रमजीवियों और उनके साथियों के लिए अत्यन्त घातक है। श्रमजीवियों की गुलामी का मूल आधार यही है। किन्तु इस विषय में कोई चिन्ता नहीं करता और इस बात को बिल्कुल सामान्य समझता है। ऐसी अवस्था में जहां मनुष्यों का यह हाल हो, क्या वर्तमान से भिन्न किसी मानव समाज की रचना की जा सकती है? श्रमजीवी अपनी दुर्दशा के लिए भूस्वामियों, पूंजीपतियों और शासकों की लोभवृत्ति और निर्दयता को उत्तरदायी ठहराते हैं, किन्तु उनमें से सब अथवा प्रायः सब, जिनका ईश्वर और ईश्वरीय नियम में कोई विश्वास नहीं है, इसी प्रकार छोटे किन्तु असफल रूप में भूस्वामी, पूंजीपति और शासक हैं।

एक देहाती लड़का आजीविका की तलाश में शहर में अपने एक मित्र के पास आता है। एक बड़े सेठ के यहां कोचवान की जगह ख़ाली होती है। लड़का कहता है कि वह उस जगह प्रचलित दर से कम वेतन लेकर काम करने को तैयार है। उसे नौकरी मिल जाती है, किन्तु दूसरे दिन वह सुनता है कि इस जगह पहले एक बुड्ढा कोचवान काम करता था जो अब बेकार हो गया है और उसके सामने पेट का सवाल पैदा हो गया है। लड़के को बुड्ढे की हालत पर बड़ा खेद होता है और वह अपनी नौकरी से इस्तीफा दे देता है। कारण जो, बर्ताव उसे अपने लिए पसन्द न हो, वह दूसरों के साथ वही बर्ताव क्यों करता?

दूसरा उदाहरण एक बड़े परिवार वाले किसान का है। वह एक

धनिक और कस कर काम लेने वाले भूस्वामी के यहां अच्छे वेतन
प्रबन्धक बन जाता है। इस प्रकार अपने परिवार के भरण-पोषण
चिन्ता से वह मुक्त हो जाता है और संतोष की सांस लेता है। कि
ज्यों ही वह काम सम्हालता है, उसको देहातियों पर जुर्माने करने पड़ते है
कारण उनके मवेशी ज़मींदार के बाड़े में घुस गये थे। उसे ज़मींदार
जंगल से ईंधन लाने वाली औरतों को गिरफ्तार करना पड़ता है। उ
मज़दूरों की मजदूरियां घटानी पड़ती हैं और कस कर अधिक से अधि
काम लेना पड़ता है। उसका अन्तःकरण उसको यह सब कुछ करने
गवाही नहीं देता। वह अपने परिवार के कहने-सुनने की कोई परवाह न
करता और नौकरी छोड़ देता है और कम आमदनी वाले और कि
काम में लग जाता है।

तीसरा उदाहरण एक सैनिक का है। अपनी कम्पनी के सा
मज़दूरों के विद्रोह को दबाने के लिए उसको लाया गया है और गो
चलाने का हुक्म दिया गया है। वह ऐसा करने से इन्कार कर देता
और सब प्रकार का उत्पीड़न सहने के लिए उद्यत हो जाता है।

यह सब लोग ऐसा इसलिए करते हैं कि उनको उस बुराई का प
होता है जो उन्हें दूसरों के प्रति करनी होती है। उनका दिल उनको क
देता है कि यह काम ईश्वर के नियम के विरुद्ध होगा। उन्हें वह काम
करना चाहिए जो वे अपने लिए नहीं चाहते।

किन्तु यदि कोई श्रमजीवी यह नहीं जानता कि वह किसी काम
मज़दूरी सस्ती कर के दूसरे मज़दूरों को नुक़सान पहुंचा रहा है तो इस
उस बुराई की मात्रा कम नहीं हो जाती, जो वह अपने साथियों की
डालता है। और यदि कोई श्रमजीवी मालिकों की तरफ हो जाता है अ
अपने साथियों के नुक़सान को देखता या महसूस नहीं करता, तो
अनिष्ट तो अनिष्ट ही रहेगा। जो मनुष्य सेना में भर्ती होता है अ
जरूरत पड़ने पर अपने भाइयों को मारने के लिए उद्यत होता है, वह
अनिष्ट ही करता है। सेना में भर्ती होते समय चाहे उसको यह न माम

पड़े कि उसे कहां और किस को मारना पड़ेगा, पर वह यह तो समझ ही सकता है कि गोली चलाना और संगीन भौंकना उसका काम होगा।

अत्याचार और बन्धन से छुटकारा पाने के लिए श्रमजीवियों को अपने भीतर वह धार्मिक भावना पैदा करना चाहिए जो अपने भाइयां की हालत बिगाड़ने वाला कार्य करने से रोकती है, चाहे हालत बिगड़ती हुई भले ही न दिखाई दे। उनको धार्मिक शपथ ले लेनी चाहिए कि (१) यदि सम्भव हो तो वे पूंजीपतियों के अधीन काम न करेंगे। (२) प्रचलित से कम मज़दूरी पर काम न करेंगे। (३) पूंजीपतियों की ओर मिल कर और उनके हितों का पोषण करके अपनी अवस्था न सुधारेंगे और राजकीय बल-प्रयोग में किसी प्रकार सहयोग न देंगे। अपने कार्यों के प्रति इस प्रकार की धार्मिकवृत्ति रखकर के श्रमजीवी अत्याचारों से छुटकारा पा सकते हैं।

यदि श्रमजीवी लोभ अथवा भय के वशीभूत होकर संगठित हत्याकारी दल में शामिल होता है, अपने व्यक्तिगत लाभ की खातिर जान-बूझकर अपने से ज्यादा जरूरतमन्द श्रमिक के पेट पर लात मारता है, वेतन की खातिर अत्याचार करने वालों के पक्ष में हो जाता है और उनके कामों में सहयोग देता है, और उसकी अन्तर-आत्मा इसके लिए उसको नहीं टोंचती तो उसको किसी को दोष देने का कोई अधिकार नहीं। अपनी स्थिति के लिए वह स्वयं जिम्मेदार है। वह या तो पद्दलित हो सकता है या पीड़क। इसके अलावा तीसरी स्थिति नहीं हो सकती। ईश्वर और ईश्वरीय नियम में श्रद्धा न हुई तो मनुष्य अपने अल्प जीवन में अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा चाहे इसका परिणाम दूसरों के लिए कैसा भी क्यों न हो। और जब लोग अपनी-अपनी चिंता करेंगे, अपना ही अधिक से अधिक सुख खोजेंगे, और दूसरों पर पड़ने वाले नतीजों का कुछ खयाल न करेंगे तो समाज संगठन का कैसा भी रूप क्यों न हो, अनिवार्यतः मनुष्यों का ऐसा समूह अस्तित्व में आयेगा, जिसमें चोटी पर होंगे मुट्ठी भर शासक लोग और नीचे होंगे असंख्य पद्दलित।

: ८ :

सत्ता बनाम स्वतंत्रता

महाकवि शैली ने लिखा है :"संसार में सब से घातक भूल यह हुई कि राजनीति और नीति शास्त्र को अलग-अलग समझा गया।"

"श्रमजीवी क्या करें ?" शीर्षक निबन्ध में मैंने अपनी यह सम्मति प्रकट की है कि यदि श्रमजीवी अपने कष्टों का अन्त चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि वे अपना वर्तमान जीवन-क्रम बदल दें अर्थात् अपनी व्यक्तिगत भलाई की खातिर अपने पड़ौसियों के साथ संघर्ष न करें, और बाइबिल के इस नियम का अनुसरण करें कि मनुष्यों को दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा वह दूसरों से अपने लिए चाहता है।

जैसी कि मुझे आशा थी, अत्यन्त विरोधी विचार रखने वाले लोगों ने एक ही स्वर से मेरे प्रस्ताव की निन्दा की है । लोग कहते हैं : "मेरा प्रस्ताव अलौकिक है, अव्यावहारिक है । जो लोग अत्याचार और हिंसा के शिकार हो रहे हैं, वे जब तक धर्मात्मा न बन जायं तब तक उनकी मुक्ति के लिए प्रतीक्षा करते रहना वर्तमान बुराई को स्वीकार करना और निष्क्रिय बन कर बैठ रहना होगा।" इसलिए मैं यहां थोड़े-से में यह बता देना चाहता हूं कि मैं उस प्रस्ताव को इतना अव्यावहारिक क्यों नहीं मानता जितना कि यह प्रतीत होता है, बल्कि मेरी राय में वर्तमान समाज व्यवस्था को सुधारने के लिए वैज्ञानिकों ने जो उपाय सुझाये हैं, उन सब की अपेक्षा मेरे प्रस्ताव पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। मेरा कहना खासतौर पर उन लोगों के लिए है जो ईमानदारी से, शब्दों में नहीं बल्कि कार्य रूप में, अपने पड़ौसियों की सेवा करना चाहते हैं।

सामाजिक जीवन के आदर्श, जो मनुष्यों की प्रवृत्तियों का पथ-प्रदर्शन करते हैं, बदलते रहते हैं और उनके साथ मानव जीवन का व्यवस्था-क्रम भी बदलता रहता है। एक ज़माने में सामाजिक जीवन का आदर्श पूर्ण 'पाशविक स्वतंत्रता' था। इसके अनुसार मानव जाति का एक

भाग दूसरे भाग को अपना वश चलते निगलने की कोशिश करता था। यहां निगलने शब्द का उपयोग यथार्थ और अलंकारिक दोनों ही रूप में किया गया है। इसके बाद ऐसा ज़माना आया जब एक आदमी की सत्ता सामाजिक आदर्श बन गया और लोग अपने शासकों के प्रति आदर प्रकट करने लगे और न केवल स्वेच्छापूर्वक बल्कि उत्साहपूर्वक उनके अधीन हो गए। रोम और मिश्र के इतिहास इसके उदाहरण हैं। इसके बाद लोगों ने जीवन के उस संगठन को अपना आदर्श माना जिससे सत्ता को सत्ता की खातिर नहीं, बल्कि मनुष्यों के जीवन के उत्तम संगठन के लिए आवश्यक समझा गया। इस आदर्श की पूर्ति के लिए एक समय विश्व-व्यापी एक-तंत्री राज्य स्थापित करने का उद्योग हुआ, फिर विभिन्न एक-तंत्री राज्यों को एक सूत्र में आबद्ध रखने और उनका पथ-प्रदर्शन करने के लिए विश्व-व्यापी धार्मिक सत्ता का प्रादुर्भाव हुआ। इसके बाद प्रतिनिधि शासन के आदर्श का जन्म हुआ और फिर प्रजा-तंत्र का। प्रजातंत्र में कहीं सार्वत्रिक मताधिकार था और कहीं नहीं। आज-कल यह माना जाता है कि उस आदर्श की पूर्ति ऐसे आर्थिक संगठन द्वारा हो सकती है जिसमें श्रम के समस्त साधन व्यक्तियों की सम्पत्ति होने के बजाय सारे राष्ट्र की सम्पत्ति हों।

यह आदर्श एक दूसरे से कितने ही भिन्न क्यों न हों, उनको जीवन में कार्य रूप देने के लिए हमेशा सत्ता को आवश्यक समझा गया। सत्ता से मतलब दबाने वाली सत्ता से, जो मनुष्यों को स्थापित कानूनों को मानने के लिए बाध्य करती है। आज भी यही समझा जाता है।

यह समझा जाता है कि सर्वसाधारण का अधिक से अधिक हित-साधन करने के लिए कुछ ऐसे लोगों की आवश्यकता होती है, जिनके हाथ में सत्ता सौंप दी जाय और जो ऐसा संगठन कायम करके बनाये रखें जिसमें नागरिकों को अपने काम, अपनी स्वतन्त्रता और अपने जीवन पर दूसरों की ओर से आक्रमण होने का कम से कम खतरा हो। चीनी शिक्षा के अनुसार यह काम कुछ धर्मात्मा व्यक्तियों को और योरोपीय

शिक्षा के अनुसार प्रजा द्वारा अभिषिक्त या निर्वाचित व्यक्तियों को सौंपना चाहिए। जो वर्तमान राजकीय संगठन को मानव जीवन के लिए आवश्यक समझते हैं, न केवल वे, बल्कि क्रान्तिकारी और समाजवादी, जो यद्यपि वर्तमान राजकीय संगठन में परिवर्तन की ज़रूरत महसूस करते हैं, फिर भी सत्ता को समाज-व्यवस्था के लिए आवश्यक समझते हैं। और इस सत्ता का अर्थ है कि कुछ लोगों को स्थापित क़ानूनों का पालन करवाने के लिए दूसरों को बाध्य करने का अधिकार हो।

प्राचीन काल से लगाकर आजतक यही स्थिति रही है। किन्तु जिन लोगों को सत्ता के सहारे कुछ नियम मानने के लिए बाध्य किया गया उन्होंने उन नियमों को सदा ही सर्वोत्तम नहीं समझा और इसलिए वे बहुधा सत्ताधीशों के विरुद्ध उठ खड़े हुए, उन्हें पदच्युत कर दिया और पुरानी व्यवस्था के स्थान पर नई व्यवस्था कायम की जो उनके मतानुसार सर्वसाधारण के लिए पहले से अधिक हितकर थी। किन्तु जिनके हाथ में भी सत्ता गई, उनका सत्ता ने दिमाग़ खराब कर दिया और इसलिए उन्होंने सर्वसाधारण के लिए नहीं, बल्कि अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए उस सत्ता का प्रयोग किया। इस प्रकार नई सत्ता हमेशा पुरानी जैसी ही रही और बहुधा पहले से भी अधिक अन्यायपूर्ण सिद्ध हुई।

यह तो उस अवस्था की बात हुई जब स्थापित सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करने वाले उसे परास्त करने में कामयाब हुए। किन्तु जब स्थापित सत्ता को विजय प्राप्त हुई तो उसने आत्म-रक्षा की भावना से मत्त होकर हमेशा अपनी रक्षा के साधनों को बढ़ाया और वह अपने नागरिकों की स्वतंत्रता के लिए पहले से भी अधिक हानिकारक बन गई।

भूत और वर्तमान काल में हमेशा ऐसा ही होता आया है। १६वीं शताब्दि में योरोप में जो कुछ हुआ, वह इस सम्बन्ध में खासतौर पर शिक्षाप्रद है। इस शताब्दि के पूर्वार्द्ध में क्रान्तियां अधिकांशतः सफल हुईं। किन्तु पुरानों की जगह लेने वाले नये सत्ताधीशों, नेपोलियन प्रथम, चार्ल्स दसवें, नेपोलियन द्वितीय ने नागरिकों की आज़ादी में वृद्धि नहीं

की। सन् १८४८ के बाद, १९वीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में क्रान्ति की तमाम कोशिशों को दबा दिया गया और पूर्व क्रान्तियों और नये प्रयत्नों के फलस्वरूप शासकों ने अपनी आत्म-रक्षा के लिए अधिकाधिक किलेबन्दी कर ली, और गत शताब्दि के औद्योगिक आविष्कारों की बदौलत, जिनके फलस्वरूप मनुष्यों को प्रकृति पर और एक दूसरे पर अपूर्व अधिकार प्राप्त हो गए हैं, उन्होंने उसे और भी बढ़ाली और गत शताब्दि के अन्त होते-होते उसका इस हद तक विकास कर लिया है कि उसके विरुद्ध संघर्ष करना असम्भव होगया है। शासकों ने लोगों से न केवल असंख्य धनराशि जमा करली है, उनके पास चतुरतापूर्वक जमा किया हुआ न केवल सुसंगठित सैन्य-दल है, बल्कि उन्होंने जनसाधारण को प्रभावित करने के तमाम आध्यात्मिक साधनों को भी हथिया लिया है। वे समाचार-पत्रों का सूत्र-संचालन करते हैं और धार्मिक प्रगति और शिक्षा पर उनका आधिपत्य है। इन साधनों को इस प्रकार संगठित किया गया है कि स्थापित सत्ता के विरुद्ध सिर उठाना बहुत कठिन हो गया है।

यह पहलू बिल्कुल नया और इस युग के लिए एकदम मौलिक है। नीरो, चंगेज़खां अथवा चार्ल्स महान् कितने ही शक्तिशाली क्यों न रहे हों, वे अपने राज्यों के सीमान्तों पर होने वाले उपद्रवों को न दबा सके। उनके लिए अपने प्रजाजनों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों, शिक्षा, विज्ञान और नीति और उनकी धार्मिक वृत्तियों का संचालन करना और भी कम सम्भव था। किन्तु आज ये सब साधन आधुनिक शासकों के हाथ में हैं। उनके पास खुफिया पुलिस है, गुप्तचर प्रणाली है, अखबारों को प्रभावित करने की शक्ति है, रेलें, तार और टेलीफोन हैं, फोटोग्राफी (चित्रसाज़ी) की कला है; जेल और क़िले हैं, अनन्त धनराशि है, आने वाली पीढ़ी की शिक्षा और सेना भी उन्हीं के हाथ में हैं।

इन सब साधनों का संगठन इस प्रकार किया गया है कि अयोग्य से अयोग्य और नासमझ सत्ताधीश भी आत्म-रक्षा की स्वाभाविक भावना से प्रेरित होकर विद्रोह की गुरुतर तयारियों को रोक सकते हैं

और भूतकाल के स्वप्न देखने वाले क्रान्तिकारियों द्वारा समय-समय पर खुली बग़ावत के जो कमज़ोर प्रयत्न अब भी किये जाते हैं, उनको वे बिना किसी प्रयत्न के सदा कुचल दे सकते हैं। क्रान्तिकारियों के प्रयत्न शासकों की सत्ता को बढ़ाने वाले सिद्ध होते हैं। इस समय शासकों पर विजय पाने का एक ही उपाय है। वह यह कि सैनिक लोग, जो प्रजा के ही आदमी हैं, शासकों की सहायता करना बन्द कर दें। किन्तु उनका संगठन इस प्रकार किया गया है कि उन्हें आसानी से प्रभावित नहीं किया जा सकता। अतः यदि शासक सत्ता अपने हाथों में रखना चाहें, और वे ऐसा अवश्य चाहेंगे, क्योंकि सत्ता न रही तो उनको पदच्युत हो जाना पड़ेगा, तो क्रान्ति का कोई खास आयोजन नहीं किया जा सकता और यदि ऐसा कोई आयोजन सम्भव भी हो तो वह हमेशा कुचल दिया जायगा और बहुत से जोशीले व्यक्तियों के बर्बाद होने और शासकों की सत्ता बढ़ जाने के अलावा उसका कोई परिणाम न निकलेगा। क्रान्तिकारी और समाजवादी, जो गुजरे हुए ज़माने की परम्परा का अनुसरण करते हैं और लड़ने-भिड़ने के जोश में बह जाते हैं, भले ही यह बात उनकी समझ में न आये, क्योंकि कुछ अर्से से यह एक पेशा-सा बन गया है, किन्तु जो ऐतिहासिक घटनाओं पर स्वतंत्रतापूर्वक विचार करते हैं, उनको यह सत्य अवश्य मानना पड़ेगा।

यह एकदम नई स्थिति है और इसलिए जो लोग वर्तमान व्यवस्था को बदलना चाहते हैं, उन्हें शासकों को इस स्थिति को ध्यान में रखकर अपना कार्यक्रम बनाना चाहिए।

शासकों और शासितों के बीच शताब्दियों से संघर्ष होता आया है। उसके फलस्वरूप एक सत्ता के बाद दूसरी सत्ता क़ायम होती रही। किन्तु गत शताब्दि के मध्य से योरोप में इस युग के औद्योगिक आविष्कारों के फलस्वरूप विद्यमान शासकों के हाथों में ऐसे हथियार आ गये हैं कि उनसे लड़ना असम्भव हो गया है। जिस मात्रा में यह सत्ता अधिकाधिक विकसित होती गई, उसी मात्रा में उसकी असंगतता प्रकट होती

गई। लोक हितकारी सत्ता और हिंसा की कल्पना के सामंजस्य में जो आन्तरिक विरोध है वह अधिकाधिक स्पष्ट होता गया। यह स्पष्ट हो गया कि जिस सत्ता को कल्याणकारी होने के लिए सर्वश्रेष्ठ मनुष्यों के हाथ में रहना चाहिए था, वह हमेशा निकृष्टतम लोगों के हाथों में रही। कारण, सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों ने सत्ता के मूल-स्वरूप को ध्यान में रखकर उसे कभी भी हस्तगत करना न चाहा—सत्ता का अर्थ यह है कि अपने ही पड़ोसियों के प्रति हिंसा का प्रयोग किया जाय—यही कारण है कि सत्ता न उनको कभी प्राप्त हुई और न उनके हाथों में रही।

लोक-कल्याण और सत्ता के बीच विरोध इतना स्पष्ट है कि शायद ही कोई उससे अपरिचित रहा हो। किन्तु सत्ता का वातावरण इतना भड़कीला है, वह इस क़दर लोगों में भय का संचार करती है और परम्परा मनुष्यों को इतना जड़ बना देती है कि मनुष्यों को अपनी भूल का पता लगाने में सैकड़ों ही नहीं हजारों वर्ष गुज़र गए। कुछ ही दिनों से लोग यह समझने लगे हैं कि सत्ता की पोशाक चाहे जितनी गम्भीर क्यों न हो, उसका मूल तत्व लोगों को सम्पत्ति, स्वतंत्रता और जीवन के अपहरण का भय दिखाना और उसे कार्यरूप में परिणत करना है। इसलिए जो लोग राजाओं, सम्राटों, मंत्रियों, न्यायाधीशों आदि की भांति राजनीति के क्षेत्र में अपना जीवन बिताते हैं और जिनका एकमात्र उद्देश्य अपनी सुविधाजनक स्थिति को कायम रखना होता है, वे सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति ही नहीं, बल्कि निकृष्टतम व्यक्ति होते हैं। ऐसे लोगों की सत्ता के द्वारा लोगों का हित साधन नहीं हो सकता। वे तो हमेशा मानव जाति के सामाजिक संकटों के प्रधान कारण रहे हैं और आज भी बने हुए हैं। इस लिए जहां पहले सत्ता के प्रति लोगों के हृदयों में उत्साह और भक्ति का उदय होता था, वहां आज अधिकांश और सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों के दिलों में उदासीनता ही नहीं निरादर और घृणा की भावना पैदा होती है। मानव-जाति का प्रगति-शील अंग अब यह समझने लगा है कि सत्ता की सारी चमक-दमक जल्लाद की पोशाक—लाल कमीज और

मखमली पाजामे के अलावा और कुछ नहीं है। वह पोशाक ही दूसरे कैदियों और जल्लाद का अन्तर प्रकट करती है, कारण उसका कार्य अत्यन्त अनैतिक और निंद्य है।

लोगों में सत्ता के प्रति जो भाव फैल रहे हैं, उनको ध्यान में रखकर आज कल शासक लोग दैवी अधिकारों, लोक निर्वाचनों अथवा जन्मजात गुणों के उच्च आधारों पर निर्भर नहीं रहते। वे बल-प्रयोग को ही अपना प्रथम और आखरी शस्त्र समझते हैं। इस प्रकार केवल दमन का सहारा लेने से सत्ता लोगों की और भी कम विश्वास-भाजन होती जा रही है और फलस्वरूप उसे राष्ट्रीय जीवन की तमाम प्रवृत्तियों को अधिकाधिक कुचलने के लिए बाध्य होना पड़ा है और इस कारण लोगों में असन्तोष की मात्रा और भी बढ़ जाती है।

सत्ता अब अजेय बन गई है। वह दैवी अधिकारों, निर्वाचन, प्रतिनिधित्व आदि राष्ट्रीय आधारों पर निर्भर नहीं रहती। हिंसा ही उसका अस्त्र बन गया है। साथ ही लोगों ने सत्ता पर विश्वास करना और उसका सम्मान करना बन्द कर दिया है। केवल विवश होकर ही वे उसके आगे सिर झुकाते हैं। ठीक गत शताब्दि के मध्य से, जब सत्ता अजेय बनी और साथ ही उसने प्रतिष्ठा से भी हाथ धोया, लोगों में यह विचार पैदा हुआ कि वास्तविक स्वतंत्रता का सत्ता के साथ कोई मेल नहीं हो सकता। बल-प्रयोग के हामी जिस स्वतंत्रता का प्रचार करते हैं, वह तो काल्पनिक स्वतंत्रता है, कारण उसमें मनुष्य को दण्ड के भय से दूसरों की आज्ञा माननी पड़ती है। वास्तविक स्वतंत्रता में हरेक मनुष्य को अपने विवेक के अनुसार जीवन बिताने और आचरण करने की स्वतंत्रता होती है।

इस नये आदर्श के अनुसार, जैसा कि पहले खयाल किया जाता था, सत्ता कोई ईश्वरीय अथवा महान् वस्तु नहीं है। वह सामाजिक जीवन के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक भी नहीं है। वह तो नग्न बलप्रयोग का परिणाम मात्र है जो थोड़े से लोग दूसरों पर किया करते हैं। यह सत्ता चाहे किसी शासक के हाथ में हो या शासन समिति के हाथ में, उसका एक ही अर्थ होगा कि कुछ आदमियों की दूसरे आदमियों पर

हुकूमत चले। ऐसी दशा में स्वतंत्रता नहीं हो सकती और कुछ लोग मानव जाति के शेष भाग को सताते रहेंगे। इसलिए सत्ता को न अपनाया जाय। किन्तु यह कार्य किस प्रकार सम्पादित किया जाय और उसके बाद कैसी व्यवस्था की जाय कि मनुष्य पुनः आपस में एक दूसरे के साथ नग्न हिंसा का व्यवहार न करने लगें।

सभी अराजकतावादी इस प्रश्न का एक स्वर से यही उत्तर देते हैं कि यदि वास्तव में सत्तारहित समाज स्थापित करना हो तो यह बलप्रयोग द्वारा न होना चाहिए बल्कि लोगों में यह भावना जाग्रत होनी चाहिए कि वह निरर्थक और बुरी वस्तु है। सत्तारहित समाज व्यवस्था किस प्रकार स्थापित की जाय, इस बारे में अराजिकतावादियों की भिन्न-भिन्न सम्मतियां हैं।

मि० गॉडविन नामक अंग्रेज और प्राउढन नामक फ्रांसिसी विचारकों ने प्रथम प्रश्न के उत्तर में लिखा है कि सत्ता-रहित समाज की स्थापना के लिए लोगों में ज्ञान का उदय होना काफी होगा। उनके मतानुसार चूंकि सत्ता सार्वजनिक हित और न्याय पर आक्रमण करती है, इसलिए यदि लोगों में यह विचार फैलाया जाय कि सार्वजनिक हित और न्याय की रक्षा सत्तारहित समाज में ही हो सकती है तो सत्ता खुद-ब-खुद मिट जायगी। दूसरा प्रश्न यह है कि सत्ता के बिना नवीन समाज की व्यवस्था किस प्रकार सुरक्षित रहेगी। इस सम्बन्ध में दोनों ही विचारकों का कथन है कि जो लोग सर्वसाधारण के हित और न्याय की भावना से प्रेरित होंगे, वे स्वभावतः सब से अधिक विवेकपूर्ण और उपयुक्त समाज व्यवस्था स्थापित कर लेंगे।

दूसरी ओर बुकोनिन और क्रोपाटकिन जैसे अराजकतावादी हैं, जो यद्यपि यह स्वीकार करते हैं कि सर्वसाधारण को सत्ता की हानियों का ज्ञान होना चाहिए और यह कि सत्ता के होते हुए मानव उन्नति नहीं हो सकती, तथापि वे सत्तारहित समाज की स्थापना के लिए हिंसात्मक क्रांति का होना सम्भव ही नहीं, आवश्यक भी समझते हैं और उसके लिए तय्यारी करने की लोगों को सलाह देते हैं। दूसरे प्रश्न का वे यों

उत्तर देते हैं कि जब राज्य संगठन और सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार न रहेगा तो लोग स्वभावतः विवेक-पूर्ण, स्वतंत्र और लाभदायक समाज व्यवस्था क़ायम कर लेंगे।

मार्क्स स्टर्नर नामक जर्मन और मि० टकर नामक अमेरिकन विचारकों का भी एक ही मत है। वे मानते हैं कि यदि लोग यह समझ लें कि प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत स्वार्थ ही मनुष्यों के कार्यों का बिल्कुल पर्याप्त और उचित पथ प्रदर्शक है और केवल सत्ता ही मानव जीवन के मुख्य अंग के पूर्ण विकास में बाधक होती है तो सत्ता अपने आप मिट जायगी। कारण, उस अवस्था में न कोई उसको स्वीकार करेगा और न उसमें हिस्सा ही लेगा। और जब लोग सत्ता की आवश्यकता न समझेंगे और उसके सम्बन्ध में जो अन्ध-विश्वास है, उससे मुक्त हो जायंगे और केवल अपने व्यक्तिगत हितों का ही विचार करेंगे तो वे अपने-आप ऐसी समाज व्यवस्था क़ायम कर लेंगे जो हरेक के लिए सब से अधिक पर्याप्त और लाभदायक होगी।

ये सब कथन सही हैं कि यदि सत्ता रहित समाज की स्थापना करनी है तो बल-प्रयोग द्वारा नहीं हो सकती। कारण, जो सत्ता—सत्ता को मिटायेगी, वह सत्ता तो रहेगी ही। सत्ता तो तभी मिट सकती है जब लोग इस सत्य का अनुभव करें कि सत्ता बेकार और हानिकर वस्तु है और इसलिए लोग न तो उसको स्वीकार करें और न उसमें हिस्सा लें। यह निर्विवाद सत्य है। लोगों में विवेकपूर्ण ज्ञान का उदय होने पर ही सत्ता मिट सकती है। किन्तु यह ज्ञान हो कैसा? अराजकतावादियों का विश्वास है कि सार्वजनिक हित, न्याय, उन्नति अथवा मनुष्यो के व्यक्तिगत स्वार्थों पर उसका आधार होना चाहिए। किन्तु यह सब बातें न केवल परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध हैं, बल्कि उनके सम्बन्ध में लोगों की कल्पनायें भी बड़ी भिन्न हैं। इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि जो लोग आपस में ही एक मत नहीं हैं, और जिन बातों के आधार पर वे सत्ता का विरोध करते हैं, उनके बारे में उनकी भिन्न-भिन्न धारणायें हैं, वे सत्ता

को मिटा सकेंगे—उस सत्ता को जिसकी जड़ें इतनी गहरी बैठी हुई हैं और जिसकी रक्षा इतनी योग्यतापूर्वक की जा रही है। इसके अलावा यह ख़याल भी ग़लत है कि सार्वजनिक हित, न्याय और उन्नति के विचारों से प्रेरित होकर वे व्यक्ति जो सत्ता के पाश से मुक्त हो चुके होंगे, किन्तु जो सार्वजनिक हित के आगे अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को तिलांजलि देना नहीं चाहते, एक दूसरे की स्वतंत्रता पर आक्रमण न करेंगे और जीवन की न्यायपूर्ण व्यवस्था क़ायम कर लेंगे। मार्क्स स्टर्नर और मि० टकर का यह उपयोगितावादी और व्यक्तिवादी सिद्धान्त कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत स्वार्थ का ही ध्यान रखने से सब लोगों में न्यायपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो सकते हैं, न केवल मनमाना है, बल्कि जो कुछ वस्तुतः हो चुका है और आगे हो रहा है, उसके सर्वथा प्रतिकूल है।

इस प्रकार यद्यपि अराजकतावादी सत्ता-रहित समाज की स्थापना के लिए आध्यात्मिक साधनों को सही तौर पर एकमात्र साधन स्वीकार करते हैं, किन्तु चूंकि उनकी जीवन सम्बन्धी कल्पना अधार्मिक और पार्थिव है, इसलिए वे आध्यात्मिक साधनों से वंचित हैं। वे कपोल कल्पनाओं पर भरोसा किये बैठे हैं। फलस्वरूप सत्ता के पुजारियों को अराजकता-वादियों द्वारा प्रतिपादित साधनों की अल्पता के कारण उनके सिद्धान्तों के वास्तविक आधारों को अस्वीकार करने का अवसर मिल जाता है।

आध्यात्मिक अस्त्र से लोग बहुत पहले से परिचित हैं। इसने हमेशा सत्ता को मिटाया है और जिन्होंने भी इसका प्रयोग किया, उन्हें पूर्ण और अमर स्वतंत्रता प्रदान की है। यह अस्त्र सिर्फ़ यह है कि हमारा जीवन के सम्बन्ध में विशुद्ध दृष्टिकोण हो। इस दृष्टिकोण के अनुसार मनुष्य अपने इस पार्थिव जीवन को सम्पूर्ण जीवन का आंशिक प्रदर्शन समझता है और इस जीवन का अनन्त जीवन के साथ सम्बन्ध स्थापित करके उस अनन्त जीवन के नियमों की पूर्ति में ही अपना सर्वोच्च हित मानता है। वह मनुष्य के बनाये हुए नियमों की अपेक्षा उस अनन्त के नियमों को अपने लिए अधिक माननीय समझता है। ऐसी धार्मिक कल्पना ही, जो

समस्त मानव समाज के सामने जीवन का समान आदर्श उपस्थित करती है और जिसके अनुसार सत्ता के आगे सिर नहीं झुकाया जा सकता और न उसमें हिस्सा लिया जा सकता है, वास्तव में सत्तारहित समाज की स्थापना कर सकती है।

यह कितनी विचित्र बात है कि जब मनुष्यों ने जीवन के अनुभवों से यह समझा कि वर्तमान सत्ता अजेय है और पशु-शक्ति से उसको इस युग में परास्त नहीं किया जा सकता तभी उन्हें इस स्वयं-सिद्ध सत्य का भी पता लगा कि सत्ता और उससे पैदा होने वाले तमाम अनिष्ट मनुष्यों के बुरे जीवन के परिणाम हैं और इसलिए उनको मिटाने के लिए मनुष्यों को सद्जीवन का आश्रय लेना चाहिए।

मनुष्य इस तथ्य को समझने लगा है। अब उसको यह और समझना है कि समाज में सद्जीवन बिताने का एक ही मार्ग है। वह यह कि ऐसी धार्मिक शिक्षा पर अमल किया जाय जो स्वाभाविक हो और जिसे बहु-सख्यक जनता समझ सके। उसी के द्वारा मनुष्य उस आदर्श को सिद्ध कर सकेगा, जिसका उसके अन्तःकरण में जन्म हो चुका है और जिसको प्राप्त करने के लिए वह प्रयत्न कर रहा है। सत्ता रहित समाज की स्थापना करने और उसमें मनुष्यों को सद्जीवन बिताने के लिए तैयार करने के लिए होने वाले अन्य सब प्रयत्न निरर्थक हैं। उनके द्वारा हम उस लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकते जिसके लिए मानव प्रयत्न कर रहा है। वे तो उस लक्ष्य से और भी दूर हटाने वाले हैं।

× × × ×

मैं यह बात उन ईमानदार लोगों से कहना चाहता हूँ जो स्वार्थमय जीवन से सन्तुष्ट नहीं हैं और जो अपने भाइयों की सेवा में अपनी शक्ति खर्च करना चाहते हैं। यदि वे राज्य सत्ता के कार्यों में भाग लेते हैं या लेना चाहते हैं और इस साधन द्वारा लोगों की सेवा करना चाहते हैं तो उन्हें सत्ता पर आधारित राज्य संस्था के स्वरूप पर विचार करना चाहिए। उन्हें पता चलेगा कि हर राज्य-सत्ता को हिंसा का आश्रय लेना पड़ता है।

अमेरिका के मि० थोरो नामक एक लेखक ने अपने एक लेख में

बताया है कि उन्हों ने अमेरिका की सरकार को एक डालर का टैक्स क्यों अदा नहीं किया। उन्होंने लिखा है कि वह यह टैक्स देकर उस राज्य सत्ता के कार्य में भाग लेना नहीं चाहते जो हब्शियों की गुलामी को विहित करार देती है। अमेरिका, हालैण्ड और फ्रांस की राज्य-सत्ताओं के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की बात कही जा सकती है। अतः कोई भी ईमानदार व्यक्ति, जिसने सत्ता के स्वरूप को पहचान लिया है, उसके कार्यों में तभी हिस्सा ले सकता है जब वह यह सिद्धान्त मानता हो कि उद्देश्य अच्छा होना चाहिए, फिर साधन चाहे कैसा ही क्यों न हो। किन्तु यह जनता और राज्य-संचालकों—दोनों के ही लिए हानिकर सिद्ध हुआ है।

बात बिल्कुल सीधी है। आप राज्य सत्ता के नियमों का उपयोग कर के उससे लोगों के लिए अधिक स्वतंत्रता और अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु शासकों की सत्ता जितनी ही अधिक होती है, उतना ही लोगों की स्वतंत्रता और अधिकार कम होते हैं। इसके विपरीत लोगों को जितनी ही अधिक स्वतंत्रता और अधिकार प्राप्त होंगे, उतनी ही कम सत्ता और सुविधा राज्य सत्ता को प्राप्त होगी। राज्य-सत्ता को इसका पता होता है और चूंकि सत्ता उसके हाथ में होती है, इसलिए वह हर किस्म के सुधारों की चर्चा होने देती है और कुछ ऐसे नगण्य सुधार कर भी देती है, जो उसकी सत्ता की आवश्यकता सिद्ध करते हैं, किन्तु जिन सुधारक प्रवृत्तियों से शासकों के विशेषाधिकारों में बाधा पड़ने का भय होता है, उनको वह तत्काल दबा देती है। अतः राज्य संस्थाओं और धारासभाओं द्वारा जनता की सेवा करने के तमाम प्रयत्नों का यही परिणाम निकलेगा कि शासक वर्गों को सत्ता बढ़ जायगी और जितनी आप में प्रामाणिकता होगी, उसी के अनुसार आप जान या अनजान में उस सत्ता में हिस्सा लेंगे। विद्यमान राज्य संस्थाओं के द्वारा जो लोग जनता की सेवा करना चाहते हैं, उनके लिए यही बात चरितार्थ होती है।

इसके विपरीत यदि आप अपनी गिनती उन प्रामाणिक लोगों में

करते हैं जो क्रान्तिकारी अथवा समाजवादी प्रवृत्तियों के जरिये राष्ट्र की सेवा करना चाहते हैं तो पहले तो आप इस बात पर विचार कीजिये कि लोगों के जिस सांसारिक हित साधन के लिए आप प्रयत्नशील हैं, वह उद्देश्य ही अधूरा है। वह आज तक किसी को सन्तुष्ट नहीं कर सका। दूसरे आप उन साधनों पर भी विचार कीजिये जो आपको अपने उद्देश्य सिद्धि के लिए सुलभ हैं। प्रथम तो ये साधन अनैतिक हैं। उनमें झूठ, धोखा, हिंसा आदि का आश्रय लेना पड़ता है। अतः उनसे उद्देश्य कभी सिद्ध नहीं हो सकता। आजकल राज्य सत्ता की शक्ति और सतर्कता इतनी बढ़ी चढ़ी है कि धोखा-धड़ी अथवा हिंसात्मक कार्रवाई से उसका कोई बाल भी बांका नहीं कर सकता। जितने भी क्रान्तिकारी प्रयत्न होते हैं, वे सत्ता के लिए हिंसात्मक कार्रवाई करने के नये कारण बन जाते हैं और उसकी ताकत को बढ़ा देते हैं।

किन्तु यदि हम असम्भव को भी सम्भव मान लें कि आज कल हिंसात्मक क्रान्ति सफल हो सकती है, तो सब से पहले हम यह आशा कैसे करें कि आज तक की घटनाओं के विपरीत पुरानी सत्ता के स्थान पर स्थापित नई सत्ता जनता की स्वतंत्रता को बढ़ायेगी और पहले की अपेक्षा ज्यादा कल्याणकारी सिद्ध होगी? दूसरे, साधारण समझ और अनुभव के विपरीत यह मान भी लिया जाय कि सत्ता को मिटाने वाली दूसरी सत्ता जनता को इतनी स्वतंत्रता दे सकती है कि वह अपने लिए सब से अधिक लाभदायक जीवन-व्यवस्था स्थापित करले तो भी यह मान लेने के लिए कोई कारण नहीं कि स्वार्थ-प्रेरित जीवन बिताने वाले लोग पहले से अधिक अच्छी व्यवस्था कायम कर सकते हैं।

डाहोमियो लोगों की रानी अत्यन्त उदार शासन विधान जारी कर दे और श्रम के साधनों को राष्ट्रीय सम्पत्ति भी बना दे—जिसके द्वारा कि समाजवादियों की राय में लोगों की तमाम मुसीबतों का अन्त हो जायगा, तो भी शासन विधान पर अमल होने और श्रम के साधनों को व्यक्ति-विशेष की सम्पत्ति न बनने देने के लिए किसी-न-किसी के हाथ में सत्ता

का होना आवश्यक होगा। किंतु जब तक डाहोमियो लोगों की जीवन विषयक कल्पना नहीं बदलती, यह प्रकट है कि कुछ डाहोमी शेष डाहोमियो पर वैसा ही बल-प्रयोग करते रहेंगे जैसा कि वे शासन विधान और श्रम के साधनों के राष्ट्रीय-करण के अभाव में करते। समाजवादी संगठन स्थापित करने के पहले यह आवश्यक होगा कि डाहोमी लोग अपनी रक्तपात-प्रियता से मुख मोड़ ले।

मनुष्य बिना एक दूसरे को सताये समाज में रह सकें, इसके लिए पशु-बल पर आधार रखने वाले संगठन की आवश्यकता नहीं है। उसके लिए तो नैतिक व्यवस्था की जरूरत है, जिसके अनुसार लोग दबाव के वश होकर नहीं, बल्कि आत्म-विश्वास के साथ दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करें जैसा कि वे चाहते हैं कि दूसरे लोग उनके साथ करें। ऐसे लोग अब भी मौजूद हैं। अमेरिका, रूस और कनाडा की ईसाई समाजों में उनको देखा जा सकता है। ये लोग पशु-बल द्वारा रक्षित क़ानूनों की मदद के बिना ही सामाजिक जीवन बिताते हैं और एक दूसरे को नहीं सताते।

अतः इस युग में हमारे ईसाई समाज का एक ही कर्त्तव्य है। उनको शब्द और कार्य से ईसाई शिक्षा पर अमल करना चाहिए। यही अन्तिम और सर्वोच्च धार्मिक शिक्षा है। हमको उस ईसाई शिक्षा की आवश्यकता नहीं, जो वर्तमान व्यवस्था को स्वीकार करनी है और केवल बाह्य कर्म-काण्ड पर ज़ोर देती है अथवा इस शिक्षा में विश्वास करके सन्तोष कर लेती है कि प्रभु-कृपा से मुक्ति मिल जायगी। हमको तो उस जीवित ईसाइयत की जरूरत है जिसके अनुसार पशु-बल पर आधारित सत्ता में न केवल भाग ही नहीं लिया जा सकता, बल्कि उसका प्रतिरोध भी करना होता है। यदि यह सच है तो यह प्रकट है कि जो लोग अपने पड़ौसियों की सेवा करने के इच्छुक हैं, उन्हें नयी व्यवस्थायें स्थापित करने की ओर ध्यान नहीं देना है। उन्हें तो अपने और दूसरे लोगों के जीवन को बदलने और पूर्ण बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

जो लोग अन्यथा आचरण करते हैं, वे प्रायः यह सोचते हैं कि

समाज व्यवस्था और मनुष्यों के जीवन-आदर्श और आचरण में साथ-साथ सुधार हो सकता है।

जब मनुष्य के जीवन-आदर्श और व्यवहार में परिवर्तन होता है तो अनिवार्यतः समाज व्यवस्था में भी परिवर्तन हो जाता है, किन्तु इसके विपरीत समाज व्यवस्था बदलने से न केवल मनुष्य के जीवन-आदर्श और व्यवहार में ही परिवर्तन नहीं होता, बल्कि लोगों का ध्यान और कार्य ग़लत दिशा में चले जाने के कारण उल्टे परिवर्तन होने में बाधा पहुंचती है। समाज व्यवस्था में परिवर्तन करके यह आशा करना कि उसके द्वारा मनुष्यों के आचार और आदर्श में भी परिवर्तन हो जायगा, ठीक वैसा ही है जैसा कि यह मान लेना कि गीली लकड़ी आग पकड़ लेगी यदि हम उसको चूल्हे में इस या उस तरीके से रखेंगे। आग तो पकड़ेगी सूखी लकड़ी ही, चाहे हम उसको चूल्हे में किसी भी तरह क्यों न रखें।

यह बात बिल्कुल स्पष्ट है, फिर भी लोग ग़लती करते हैं, कारण मनुष्य के आचरण के सुधार की शुरूआत उसी के द्वारा होती है और उसके लिए उसको कठोर परिश्रम करना पड़ता है। इसके विपरीत दूसरों की जीवन-व्यवस्था बदलने के लिए खुद को अपने ऊपर परिश्रम नहीं करना पड़ता और यह कार्य बहुत महत्वपूर्ण और दूरवर्ती परिणाम लाने वाला प्रतीत होता है। यही खराबी की सब से बड़ी जड़ है और जो लोग ईमानदारी के साथ अपने पड़ौसियों की सेवा करना चाहते हैं उन्हें मैं सावधान कर देना चाहता हूं कि वे उसके शिकार न बनें।

* * *

लोग कम या ज्यादा सच्चे क्रोध में आकर कहते हैं, "लेकिन जब हम अपने चारों ओर पीड़ित मनुष्यों को देखते हैं तो ईसाई धर्म का उपदेश और प्रचार करके चुप नहीं बैठ सकते। हम पीड़ितों की क्रियात्मक रूप से सेवा करना चाहते हैं। इसके लिए हम अपने परिश्रम और जीवन तक का बलिदान करने को तयार हैं।" इन लोगों को मेरा यह

उत्तर है कि आप यह कैसे जानते हैं कि जो उपाय आपको सब से अधिक उपयोगी और व्यावहारिक प्रतीत होता है, उसी के द्वारा आपको लोगों की सेवा करनी है। आप जो कुछ कहते हैं, उसका तात्पर्य यह है कि आप यह निर्णय कर चुके हैं कि हम ईसाई धर्म के द्वारा मानव समाज की सेवा नहीं कर सकते और वास्तविक सेवा राजनैतिक कार्यों द्वारा ही हो सकती है, जिसकी ओर आप आकर्षित हैं।

सब राजनैतिक पुरुष ऐसा ही सोचते हैं और वे सब एक दूसरे से मत-भेद रखते हैं और इस लिए वे सब के सब सही नहीं हो सकते। बहुत अच्छा होता यदि हरेक मनुष्य अपनी इच्छानुसार दूसरों की सेवा कर पाता, किन्तु बात ऐसी नहीं है। मनुष्यों की सेवा करने और उनकी अवस्था सुधारने का केवल एक ही मार्ग है और वह यह कि उस पर अमल किया जाय जिसके अनुसार मनुष्य को अपने को सुधारने का आन्तरिक प्रयत्न करना पड़ता है। व्यक्ति तभी सम्पूर्णता प्राप्त करेगा, जब वह मनुष्यों से परहेज़ न करता हुआ हमेशा स्वाभाविक रूप से उनके बीच रहेगा और उनके साथ अधिक अच्छे और अधिकाधिक प्रेमपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करेगा। मनुष्यों में प्रेमपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने पर उनकी सामान्य अवस्था सुधरे बिना नहीं रह सकती। हां, यह हो सकता है कि मनुष्य को यह पता न हो कि इस सुधार का रूप क्या होगा।

यह सच है कि राजकीय प्रवृत्तियों अर्थात् धारा सभाओं अथवा हिंसात्मक क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों द्वारा सेवा करने में हम जो परिणाम लाना चाहते हैं, उनको हम पहले से ही सोच लेते हैं। साथ ही हम आनन्द-दायक और विलासितापूर्ण जीवन की तमाम सुविधाओं से लाभ उठा सकते हैं, ऊंचा पद प्राप्त कर सकते हैं, लोगों से प्रशंसा पा सकते हैं और बड़ा नाम कमा सकते हैं। जो लोग ऐसे कामों में पड़ते हैं, उन्हें कभी-कभी कष्ट भी उठाना पड़ता है। हर किस्म के संघर्ष में ऐसे कष्ट-सहन की सम्भावना रहती है, पर सफलता की सम्भावना से उसकी क्षति-पूर्ति हो जाती है। सैनिक कार्यों में कष्ट झेलने और मौत तक की सम्भावना

रहती है, किन्तु उनको वही लोग पसन्द करते हैं जिनमें बहुत थोड़ी नैतिकता होती है और जो स्वार्थमय जीवन व्यतीत करते हैं। इसके विपरीत प्रथम तो धार्मिक प्रवृत्ति का परिणाम हमको प्रतीत नहीं होता। दूसरे जब हम उसका आश्रय लेते हैं तो हमको बाह्य सफलता का मोह छोड़ना पड़ता है। उसके द्वारा न केवल उच्च पद और ख्याति ही नहीं मिलती, बल्कि सामाजिक दृष्टिकोण से निम्नतम दर्जा मिलता है। न केवल निरादर और निन्दा का पात्र बनना पड़ता है, बल्कि अत्यन्त निर्दय उत्पीड़न और मृत्यु तक का सामना करना पड़ता है। इस युग में जब धर्म विरोधी कार्य करने के लिए लोगों को पशु-बल द्वारा बाध्य किया जाता है, धार्मिक कार्य करना महा कठिन है, किन्तु धार्मिक कार्यों द्वारा ही मनुष्य को वास्तविक स्वतंत्रता का भान होता है और यह निश्चय होता है कि वह अपने कर्तव्य का पालन कर रहा है। फलस्वरूप इस प्रकार की प्रवृत्ति ही वास्तव में परिणामकारी होती है। वह न केवल अपना सर्वोत्तम उद्देश्य ही सफल करती है, बल्कि संयोगवश और अत्यन्त स्वाभाविक एवं सीधे-सादे ढंग से वे परिणाम भी ला देता है जिनके लिए समाज सुधारक इतने अस्वाभाविक उपाय करते रहते हैं।

इस प्रकार मनुष्यों की सेवा करने का एक ही मार्ग है। वह यह कि मनुष्य सद्जीवन बितावे। यह उपाय काल्पनिक उपाय नहीं है, जैसा कि वे लोग समझते हैं, जिनको इससे लाभ नहीं पहुंचता। हां, इसके अतिरिक्त जो उपाय हैं, वे सभी काल्पनिक हैं। उनके द्वारा नेता लोग जनता को एक मात्र सही रास्ते से हटा कर ग़लत रास्ते भटका देते हैं।

× × ×

जो लोग इस आदर्श को जल्दी से व्यवहार में आता हुआ देखना चाहते हैं, वे कहते हैं, 'यदि इसी मार्ग से भला होना है तो वह होगा कब?' बड़ा अच्छा हो यदि यह अति शीघ्र, तत्काल हो जाय। बड़ा अच्छा हो यदि हम अति शीघ्र, तत्काल जंगल खड़ा कर सकें, पर हम ऐसा नहीं कर सकते। हमको तब तक धैर्य रखना होगा, जब तक बीज

में से अंकुर, अंकुर में से पत्तियां और पत्तियों में से टहनियां निकल कर वृक्ष नहीं बन जाता। हम जमीन में टहनियां गाड़ सकते हैं और वे कुछ काल के लिए जंगल का दृश्य उपस्थित कर देंगी, किन्तु यह आखिर होगा कोरा दृश्य ही। अति शीघ्र उत्तम समाज व्यवस्था कायम करने के सम्बन्ध में भी यही बात है। हम उत्तम व्यवस्था का दिखावा कर सकते हैं, किन्तु ऐसे दिखावों से तो सच्ची व्यवस्था क़ायम होने की सम्भावना कम ही होती है। प्रथम तो जहां उत्तम व्यवस्था न हो, वहां उत्तम व्यवस्था का चित्र बना कर लोगों को धोखा दिया जाता है, दूसरे उत्तम व्यवस्था के ये रूप सत्ता द्वारा बनते हैं और सत्ता शासक और शासित दोनों को पतित कर देती है और इसलिए सच्ची व्यवस्था क़ायम होने की सम्भावना और भी कम हो जाती है। अतः आदर्श को शीघ्र सिद्ध करने के प्रयत्न विफल हो जाते हैं और सिद्धि के मार्ग में बाधक भी बन जाते हैं।

हिंसा-रहित सुव्यवस्थित समाज की स्थापना—मानव जाति का यह आदर्श जल्दी सिद्ध होगा या देर में, यह इस पर निर्भर करता है कि कब जनता के शासक जो ईमानदारी के साथ लोगों की सेवा करना चाहते हैं, यह समझेंगे कि उनके मौजूदा कार्य ही सब से अधिक मनुष्यों को उनके उद्देश्य की सिद्धि से दूर फेंक रहे हैं। वे पुराने अन्धविश्वासों को कायम रखकर, सब धर्मों को ठुकरा कर और लोगों को राज्य-सत्ता, क्रान्ति अथवा समाजवाद की उपासना करना सिखला कर उस उद्देश्य को सिद्ध करने की आशा नहीं कर सकते। जो लोग सच्चाई के साथ अपने पड़ौसियों की सेवा करना चाहते हैं, यदि वे केवल इतना समझ लें कि राज्य-सत्ता के समर्थकों और क्रान्तिकारियों के तमाम साधन कितने निष्फल होते हैं, और यह कि लोगों को उनके कष्टों से मुक्ति दिलाने का एक ही मार्ग है और वह यह कि वे स्वार्थमय जीवन को तिलांजलि दे दें और भाईचारे का जीवन बिताने लगें—आज की तरह अपने पड़ौसियों पर बलप्रयोग करने की सम्भावना और औचित्य को स्वीकार न करें और न अपने व्यक्तिगत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उस बल-प्रयोग में कोई भाग लें, बल्कि इसके

विपरीत जीवन में इस मूलभूत और सर्वश्रेष्ठ नियम का पालन करें कि हमको दूसरों के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा हम दूसरों से अपने लिए अपेक्षा रखते हैं—तो आज की विवेकरहित और निर्दय जीवन व्यवस्था का बड़ी जल्दी अन्त हो जायगा और उसके स्थान पर लोगों के नये संस्कारों के अनुसार नई व्यवस्था कायम हो जायगी।

ज़रा तो विचार कीजिए, जिस राज्य-संस्था की उपयोगिता नष्ट हो चुकी है, उसकी सेवा करने और क्रान्ति से उसकी रक्षा करने में कितनी अधिक बौद्धिक शक्तियों का व्यय किया जा रहा है; क्रान्ति के प्रयत्नों के पीछे और राज्य-सत्ता के साथ असम्भव लड़ाई लड़ने में कितना युवकोचित और उत्साहयुक्त प्रयत्न किया जा रहा है; असम्भव समाजवादी स्वप्नों को चरितार्थ करने के लिए कितनी शक्ति खर्च की जा रही है। जो लोग इस प्रकार बेकार अपनी शक्तियों को खर्च कर रहे हैं और बहुधा अपने पड़ौसियों को हानि पहुँचा बैठते हैं, यदि वे अपनी शक्तियों को आत्म विकास के निमित्त लगावें, जिसके द्वारा कि उत्तम समाज व्यवस्था कायम हो सकती है, तो कितना अच्छा हो ?

एक पुराने मकान को खड़ा रखने के लिए जो प्रयत्न किये जा रहे हैं, यदि वही प्रयत्न नया मकान बनाने और उसके लिए सामग्री तैयार करने के लिए दृढ़तापूर्वक और बुद्धिपूर्वक होने लगें तो नवीन ठोस सामग्री से हम कितने मकान न खड़े कर लेंगे ? हां, यह हो सकता है कि नया मकान कुछ चुने हुए लोगों के लिए पुराने मकान की तरह आरामदेह और सुविधाजनक न हो, परंतु वह अधिक स्थायी अवश्य होगा और उसमें वे सब सुधार हो सकेंगे जो कुछ चुने हुए लोगों के लिए ही नहीं, बल्कि तमाम मनुष्यों के लिए आवश्यक होंगे।

अतः यहां मैंने जो कुछ कहा है वह सरल, सब की समझ में आने योग्य और अखंडनीय सत्य है। वह यह कि मनुष्यों में उत्तम जीवन की स्थापना करने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य पहले स्वयं उत्तम बनें।

लोगों को अच्छे जीवन की ओर प्रेरित करने का एक ही मार्ग है

और वह यह कि मनुष्य खुद अच्छा जीवन बितावे। इसलिए जो लोग मनुष्य समाज में उत्तम व्यवस्था कायम करने में सहायक बनना चाहते हैं, उन्हें आत्म-विकास के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। उन्हें बाइबिल की इस शिक्षा को चरितार्थ करना चाहिए कि—

"अपने परम पिता परमात्मा के समान पूर्ण बनो।"

: ६ :

समाजवाद

विलासता को छोड़ देना चाहिए। जब तक धन, बल और आविष्कारों का प्रयोग अनावश्यक बातों के लिए किया जाता रहेगा तब तक कुछ न होगा। और यह जानने के लिए कि जनसाधारण के लिए क्या आवश्यक है, हमको हर वस्तु की परीक्षा कर लेना चाहिए।

मुख्य बात यह है कि निर्दय विषमताओं को, जो हमारे लिए अभिशाप रूप हैं, सहन करने के बजाय हमको अपनी सभ्यता के समस्त सुधारों को छोड़ने के लिए तैयार होजाना चाहिए। यदि मैं वास्तव में अपने भाई से प्रेम करता हूँ तो जिस समय वह घर-बार विहीन हो, मैं उसको आश्रय देने के लिए अपनी बैठक खाली कर देने में संकोच न करूंगा। किन्तु अभी स्थिति यह है कि हम यह कहते तो हैं कि हम अपने भाई को आश्रय देना चाहते हैं, किन्तु इसी शर्त पर कि आने-जाने वालों के लिए हमारी बैठक खाली रहे। हमको यह निर्णय कर लेना चाहिए कि हमको किसकी पूजा करनी है—परमात्मा की या शैतान की। दोनों की एक साथ पूजा नहीं की जा सकती। यदि हमको परमात्मा की पूजा करनी है तो हमें को भोग विलास और सभ्यता का मोह छोड़ना होगा। हम उनको फिर अपना सकते हैं, किन्तु तभी जब सर्वसाधारण समान रूप से उनका लाभ उठा सकें।

सबसे अधिक लाभदायक सामाजिक व्यवस्था, चाहे वह आर्थिक हो अथवा अन्य प्रकार की, वह होगी, जिसमें हरेक व्यक्ति दूसरों के भले का

विचार करेगा और खुले दिल से उसके लिए अपनी शक्तियां खर्च करेगा। यदि सब की यही मनोवृत्ति हो तो हरेक का अधिक से अधिक भला हो सकता है। इसके विपरीत सबसे हानिकर मानव संगठन, आर्थिक अथवा अन्य प्रकार का वह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने ही लिए कार्य करता है, अपनी ही चिन्ता रखता है और अपने ही लिए सामग्री जुटाता है। यदि सब लोग ऐसा ही करने लगें और कम-से-कम कुटुम्बों का भी अस्तित्व न हो, जिनमें लोग एक दूसरे के लिए कार्य करते हैं, तो मेरा ख़याल है कि मनुष्य जीवित नहीं रह सकता।

परन्तु लोगों को दूसरों का हित साधन करने की इतनी चिन्ता नहीं है। इसके विपरीत हरेक व्यक्ति दूसरों को नुक़सान पहुंचा कर भी अपना ही हित साधन करने की कोशिश करता है। किन्तु यह अवस्था इतनी हानिकर है कि मनुष्य जीवन-संघर्ष में अति शीघ्र निर्बल पड़ जाता है। और तब सम्भवतः एक आदमी दूसरों पर अधिकार जमा लेता है और उनसे अपने लिए काम कराता है। परिणाम यह निकलता है कि लाभ-रहित व्यक्तिगत श्रम के बदले अधिक लाभदायक श्रम होने लगता है।

किन्तु मनुष्यों के ऐसे संगठनों में विषमता और उत्पीड़न का जन्म होता है। इसलिए लोग समानता स्थापित करने और मनुष्यों को आज़ादी दिलाने के प्रयत्न कर रहे हैं। वे सहयोग समितियां आदि की स्थापना करते हैं और राजनैतिक अधिकारों के लिए लड़ते हैं। समानता स्थापित करने का हमेशा यह परिणाम निकलता है कि काम को नुक़सान पहुँचता है। बराबर-बराबर वेतन देने के लिए सर्वश्रेष्ठ श्रमिक को निकृष्टतम श्रमिक के बराबर ला बिठाया जाता है। उपयोग की चीज़ों का इस तरह बंटवारा किया जाता है कि एक को दूसरे से अधिक या अच्छी चीजें नहीं मिलतीं। ज़मीन के बंटवारे में भी यही हो रहा है। यही कारण है कि ज़मीन छोटे-छोटे टुकड़ों में बंटती जा रही है, जो सभी के लिए हानिकर है। राजनैतिक अधिकारों द्वारा उत्पीड़न से मुक्त होने की कोशिश के फलस्वरूप लोगों में पहले से भी अधिक उत्तेजना और दुर्भाव फैल रहे हैं।

इस प्रकार समानता स्थापित करने और उत्पीड़न से मुक्ति पाने के प्रयत्न हो रहे हैं, जो अभी तक सफल नहीं हुए हैं। दूसरी ओर एक व्यक्ति का अधिक से अधिक जनसंख्या पर आधिपत्य बढ़ता ही जा रहा है। श्रम का जितना ही केन्द्रीकरण होता है, उतना ही वह लाभदायक बन जाता है। किन्तु साथ ही विषमता भी उतनी ही चुभने वाली और असहनीय क़ायम हो जाती है। तो फिर ऐसी दशा में क्या किया जाय? व्यक्तिगत श्रम लाभ रहित होता है, केन्द्रित श्रम अधिक लाभदायक होता है। किन्तु उसके साथ विषमता और उत्पीड़न भी कम भयंकर नहीं होते।

समाजवादी समस्त सम्पत्ति को राष्ट्र की, मानवता की सम्पत्ति बना कर असमानता और उत्पीड़न का अन्त करना चाहते हैं जिससे कि केन्द्रीभूत संघ स्वयं मानव समाज बन जाय। पहले तो मानव समाज ही नहीं, विभिन्न राष्ट्र भी इसकी आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते। दूसरे जहां सब लोग अपने-अपने हितों के लिए प्रयत्नशील हों उस मानव समाज में ऐसे व्यक्ति कहां मिलेंगे जो निस्वार्थ-भाव से मानव-सम्पत्ति की व्यवस्था करें और अपनी सत्ता द्वारा अनुचित लाभ न उठावें अथवा दुनिया में पुनः असमानता और उत्पीड़न को जन्म न दें?

अतः मानवता के सम्मुख यह समस्या नग्न रूप में उपस्थित है: या तो केन्द्रित श्रम द्वारा प्राप्त प्रगति को छोड़ा जाय—समानता में बाधा पहुंचने देने अथवा उत्पीड़न को सहन करने के बजाय पीछे की ओर भी भले ही हट लिया जाय या यह स्वीकार कर लिया जाय कि असमानता और उत्पीड़न तो रहेंगे ही, जब लकड़ी को चीरा-फाड़ा जायगा तो खप्पचें उड़ेंगी ही, उत्पीड़ित लोगों का अस्तित्व रहेगा ही और संघर्ष करना मानव समाज का नियम है। कुछ लोग वास्तव में ऐसा मानते भी हैं, किन्तु साथ ही साथ अधिकार रहित लोगों की चीख-पुकार, पीड़ितों के क्रन्दन और अन्याय पर क्रुद्ध हो उठने वाले लोगों की सत्य और शुभ आदर्श के नाम पर, जिसको हमारा समाज केवल नाम के लिए ही स्वीकार करता है, आवाज तीव्र से तीव्र होती जा रही है।

परन्तु यह बात एक बच्चे की समझ में भी आ सकती है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति सर्व साधारण के हित-साधन की चिंता करे और हरेक की एक कुटुम्ब के सदस्य की हैसियत से योग्य व्यवस्था की जाय तो सब का सब से अधिक हित साधन हो सकता है। पर चूंकि ऐसा होता नहीं है, हरेक के दिल में बैठा नहीं जा सकता, और सबको समझा सकना भी असम्भव बात है, कम से कम उसके लिए बहुत लम्बा समय चाहिए, इसलिए एक ही मार्ग रह जाता है। वह यह कि श्रम को केन्द्रित किया जाय, जो कि कुछ लोगों के सर्वसाधारण पर आधिपत्य होने के कारण सम्भव हो रहा है और साथ ही नंगे-भूखों की दृष्टि से धनवानों के राग-रंग को छिपाया जाय ताकि वे उस पर आक्रमण न कर सकें, और उत्पीड़ितों को सहायता पहुंचाई जाय। आज यही हो रहा है, किन्तु पूंजी का केन्द्रीकरण भी बढ़ता जा रहा है और असमानता तथा उत्पीड़न भी बढ़ते जा रहे हैं और अधिक कठोर हो रहे हैं। इसके साथ ही वस्तु-स्थिति का ज्ञान भी व्यापक हो रहा है और असमानता और उत्पीड़न की निर्दयता उत्पीड़कों और उत्पीड़ितों दोनों पर ही अधिकाधिक प्रकट होती जा रही है।

इस दिशा में और आगे बढ़ना असम्भव होता जा रहा है, इसलिए जो लोग थोड़ा सोचते हैं और तर्कयुक्त परिणामों को नहीं देखते, यह काल्पनिक उपाय सुझाते हैं कि ज्यादा हित साधन करने के लिए लोगों को सहयोग की आवश्यकता का भान कराया जाय, किन्तु यह बेकार बात है। यदि अपना अधिकाधिक हित साधन करना ही उद्देश्य हो तो पूंजीवादी समाज संगठन में प्रत्येक व्यक्ति उसे सिद्ध कर सकता है, और इसलिए ऐसे प्रयत्नों का परिणाम बातों के अतिरिक्त कुछ नहीं निकलता।

सब लोगों के लिए अत्यन्त लाभकारी संगठन तब तक कायम नहीं हो सकता, जब तक प्रत्येक आदमी का उद्देश्य भौतिक हित साधन करना रहेगा। वह तो तभी सम्भव होगा जब सब लोग उस ध्येय को सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे जो भौतिक सुख से बिल्कुल अलग है और

जब हरेक व्यक्ति दिल से यह कहेगा—"धन्य हैं वे, जो गरीब हैं, धन्य हैं वे, जो आंसू बहाते हैं और धन्य हैं वे, जो सताये जाते हैं। जब प्रत्येक व्यक्ति भौतिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक कल्याण की कामना करेगा—और यह हमेशा बलिदान द्वारा अंकित होता है—तभी सब लोगों का अधिक से अधिक कल्याण हो सकेगा।

यह सीधा-सा उदाहरण लीजिए। लोग एक साथ रहते हैं। यदि वे नियमित रूप से सफाई रखें, अपनी सफाई खुद करें तो सार्वजनिक सफाई के लिए हरेक को बहुत थोड़ा श्रम करना पड़े। किन्तु यदि हरेक आदमी अपना सफाई का काम दूसरों पर छोड़ दे तो जो उस स्थान को स्वच्छ रखना चाहे वह क्या करेगा? उसको सबका काम खुद करना पड़ेगा और गन्दगी में लिपटना होगा। यदि वह ऐसा न करे, केवल अपना ही काम करे तो उसका उद्देश्य पूरा न होगा। अवश्य ही वह आसानी के साथ दूसरों को आज्ञा दे सकता है, किन्तु उनमें कोई ऐसा नहीं है जो आज्ञा दे सके। ऐसी दशा में एक ही मार्ग रह जाता है और वह यह कि वह दूसरों के लिए काम करे। और वस्तुतः जिस दुनिया में सब लोग अपनी-अपनी चिन्ता करते हों, यह असम्भव है कि दूसरों का थोड़ा-सा काम कर देने से काम चल जाय। उसमें तो आदमी को अपने को सम्पूर्णतः समर्पित कर देना चाहिए। धर्म-भावना से प्रकाशित अन्तः करण ठीक यही करने का आदेश देता है।

क्या कारण है कि न तो राजकीय बल-प्रयोग द्वारा और न क्रान्ति और राजकीय साम्यवाद द्वारा और न ही ईसाई समाजवादियों द्वारा प्रचारित साधनों से—अर्थात् लोगों में यह अधिकाधिक प्रचार किया जाय कि वह व्यवस्था अधिक लाभदायक होगी—पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना होती है? जब तक मनुष्य का उद्देश्य अपने व्यक्तिगत जीवन का कल्याण रहता है तब तक कोई भी उसको नहीं रोक सकता कि उसको अपना न्याय्य हिस्सा मिल चुका है और आगे उसे अपना संघर्ष बन्द कर देना चाहिए अथवा मनुष्यों को ऐसी मांगों से आगे न बढ़ना चाहिए।

तो सब लोगों के कल्याण के लिए आवश्यक हों । कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता, कारण पहले तो मालूम करना ही असम्भव होगा कि कौन सी जगह पहुंचने के बाद पूरा न्याय हो गया—मनुष्य हमेशा अपनी आवश्यकताओं को बढ़ा-चढ़ाकर बतायंगे—और दूसरे यदि उचित जरूरतों को मालूम करना सम्भव भी हो तो मनुष्य जो उचित है केवल उसी के लिए मांग पेश नहीं कर सकता, क्योंकि उतना उसे मिलेगा ही नहीं, वह उससे कहीं कम पा सकेगा । समाज के दूसरे लोगों की जरूरतें न्याय के आधार पर नहीं, बल्कि व्यक्तिगत लाभ के खयाल से निश्चित होंगी, उस अवस्था में यह प्रकट है कि हरेक प्रथक व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति न्याय्य मांगों की अपेक्षा प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष के द्वारा अधिक हो सकेगी । ऐसा इस समय हो भी रहा है ।

न्यायपूर्ण स्थति क़ायम करने के लिए, जब कि लोग व्यक्तिगत हित-साधन के लिए ही सचेष्ट हैं, ऐसे लोगों की ज़रूरत होगी जो यह निश्चय कर सकें कि न्यायतः हरेक के हिस्से में कितनी सांसारिक वस्तुएं आनी चाहिए । ऐसे सत्तावान लोगों की भी आवश्यकता होगी जो लोगों को अपने न्याय हिस्से से अधिक न लेने दें । आज भी ऐसे लोग हैं और पहले भी हुए हैं जिन्होंने यह कर्त्तव्य अपने सिर पर लिया है । ये और कोई नहीं हमारे शासक ही हैं । किन्तु अभी तक न तो सल्तनतों में और न प्रजातंत्रों में ऐसे व्यक्ति पाये गये जिन्होंने वस्तुओं की मात्रा निर्धारित करने और उनको लोगों में वितरित करने में अपने और अपने साथियों के लिए सीमा का उल्लंघन न किया हो और इस प्रकार उस काम को न बिगाड़ा हो जिसे करने का भार दूसरों ने उनको सौंपा था अथवा जो भार स्वयं उन्होंने अपने सिर पर लिया था । इसलिए इस साधन को सभी लोग असन्तोषजनक मानने लगे हैं । किन्तु अब कुछ लोग यह कहते हैं कि वर्तमान राज्यसंगठनों के बजाय दूसरी किस्म के संगठन क़ायम किये जायं, जो मुख्यतः आर्थिक मामलों का नियंत्रण करें । यह संगठन इस बात को स्वीकार करें कि समस्त सम्पत्ति और ज़मीन सार्वजनिक है ।

ये मनुष्यों के श्रम की व्यवस्था करेंगे और उस श्रम के अनुसार अथवा जैसा कि कुछ कहते हैं उनकी आवश्यकताओं के अनुसार भौतिक सुख-साधनों का विभाजन करेंगे।

इस प्रकार के संगठन क़ायम करने के सभी प्रयत्न अब तक निष्फल रहे हैं। किन्तु इन प्रयोगों के बिना भी यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत हित-साधन के लिए प्रयत्नशील मानव समाज में इस प्रकार के संगठन नहीं बन सकते। कारण जो लोग आर्थिक मामलों की देख-भाल करेंगे उनमें से बहुत से ऐसे आदमी होंगे, जिन्हें अपने व्यक्तिगत हितों की चिन्ता होगी और ऐसे ही लोगों से वास्ता भी पड़ेगा, इसलिए नई आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने और उसे जारी रखने का कार्य करते हुए वे अनिवार्यतः पुराने शासकों की भांति अपना व्यक्तिगत हित-साधन करेंगे और इस प्रकार उस कार्य का असली उद्देश्य ही नष्ट कर देंगे, जो कि उनके सिपुर्द किया गया है।

कुछ लोग कहेंगे—"ऐसे आदमियों को चुनो, जो बुद्धिमान और शुद्ध हृदय हों।" किन्तु जो बुद्धिमान और शुद्ध हृदय होंगे वही तो बुद्धिमान और शुद्ध हृदय व्यक्तियों का चुनाव करेंगे। और यदि सभी बुद्धिमान और शुद्ध हृदय वाले हों, तो किसी संगठन की आवश्यकता ही न रह जायगी। इसलिए क्रान्तिकारी समाजवादी जो कुछ कहते हैं, उसकी अशक्यता को वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि उनका सिद्धान्त असामायिक है और सफल नहीं हुआ।

अब ईसाई समाजवाद की शिक्षा को लीजिए। उसका मुख्य अस्त्र यह है कि लोगों के अन्तःकरण को प्रभावित करने के लिए उनमें प्रचार किया जाय। किन्तु यह शिक्षा तभी सफल हो सकती है जब सब लोग सामुदायिक श्रम के फायदों को साफ-साफ समझ लें और यह अनुभूति सब लोगों को साथ-साथ हो जाय। किन्तु जैसा कि प्रकट है दोनों में से एक भी बात नहीं हो सकती, इसलिए वह आर्थिक संगठन जो प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष पर नहीं बल्कि सामुदायिक हितों पर निर्भर हो, कार्य रूप में

परिणत नहीं हो सकता।

अतः जब तक मनुष्यों का उद्देश्य व्यक्तिगत हितसाधन रहेगा, तब तक वर्तमान की अपेक्षा उत्तम संगठन कायम न हो सकेगा।

ईसाई समाजवाद का जो लोग प्रचार करते हैं वे यह भूल करते हैं कि वे अपने धर्म शास्त्रों से केवल सार्वजनिक कल्याण के व्यावहारिक परिणाम को ही लेते हैं, किन्तु वह उन धर्मशास्त्रों का उद्देश्य नहीं है। वह तो सिर्फ यह बताता है कि अमुक मार्ग सही है। ये धर्म शास्त्र जीवन का मार्ग बताते हैं और इस मार्ग पर चलने से भौतिक सुख की प्राप्ति भी हो जाती है। भौतिक सुख मिलता अवश्य है किन्तु लक्ष्य वह नहीं है। यदि इन धर्मशास्त्रों का उद्देश्य भौतिक सुख ही हो तो वह भौतिक सुख नहीं मिल सकता। उनका लक्ष्य तो अधिक ऊंचा और दूरवर्ती है। वह भौतिक सुख पर निर्भर नहीं करता। आत्मा की मुक्ति अर्थात् मानव शरीर में जो दैवी तत्व निहित है, उसकी मुक्ति वह उद्देश्य है। व्यक्तिगत जीवन का त्याग करने से ही यह मुक्ति मिलती है। दूसरे शब्दों में भौतिक सुखों का त्याग करना चाहिए और अपने पड़ौसियों के हित-साधन के लिए सचेष्ट होना चाहिए। प्रेम के द्वारा इस उद्देश्य को सिद्ध करना चाहिए। ऐसे प्रयत्न के फलस्वरूप ही मनुष्य संयोगवश सब लोगों का सर्वश्रेष्ठ हित सिद्ध कर सकेगा अर्थात् पृथ्वी पर स्वर्ग की स्थापना कर सकेगा। व्यक्तिहित साधन की चेष्टा से न तो व्यक्ति का और न सार्वजनिक हित सिद्ध होगा। आत्म विस्मृति की कोशिश से व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों प्रकार के हित सम्पन्न होंगे।

× × ×

सिद्धान्ततः मानव समाज का संगठन तीन प्रकार से हो सकता है। प्रथम तो यह कि सर्वश्रेष्ठ, ईश्वर-भक्त व्यक्ति लोगों के लिए ऐसा क़ानून बनायें जिससे मानव समाज का अधिक से अधिक कल्याण हो सके और अधिकारी इस क़ानून का लोगों से पालन करायें। यह उपाय काम में लाया जा चुका है। उसका परिणाम यह निकला कि क़ानून का पालन

कराने वाले अधिकारियों ने अपनी सत्ता का दुरुपयोग किया और क़ानून की अवहेलना की। ऐसा केवल उन्होंने ही नहीं किया, बल्कि उनके सहयोगियों ने भी किया, जिनकी तादाद काफी होती है। इसके बाद दूसरी योजना सामने आई। इसमें अधिकारियों की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई और यह कहा गया कि जब हरेक व्यक्ति अपने-अपने हित की चिंता करेगा तो न्याय की स्थापना हो जायगी। किन्तु यह योजना भी दो कारणों से सफल न हुई। पहला कारण यह कि सत्ता को क़ायम रखा गया और लोग यह समझते रहे कि उसको क़ायम रखना पड़ेगा। कारण उत्पीड़न फिर भी जारी रहेगा ही, और सरकार डाकू को पकड़ने में अपनी सत्ता का उपयोग न करेगी और न डाकू ही डकैती से विरत होगा। जहां अधिकारियों का अस्तित्व होता है, अपने-अपने हितों के लिए लड़ने वाले लोगों की अवस्था समान नहीं होती; केवल यही नहीं कि कुछ लोग दूसरों की अपेक्षा अधिक बलवान होते हैं, बल्कि लोग अपने को बलवान बनाने के लिए सत्ता की मदद भी ले लेते हैं। दूसरे जहां सब लोग अपने-अपने हितों के लिए संघर्ष करते हैं, एक आदमी को ज़रा-सी भी सुविधा मिल जाती है तो वह उससे कई गुना लाभ उठा सकता है और फलतः असमानता का उत्पन्न होना अनिवार्य हो जाता है। एक तीसरा सिद्धान्त और रह जाता है। वह यह कि मनुष्य दूसरों के हितों की चिंता करना लाभदायक समझने लगेंगे और उस दिशा में प्रयत्नशील होंगे। ईसाई धर्म का यही सिद्धान्त है। पहली बात तो यह कि इस सिद्धान्त पर अमल होने के मार्ग में कोई बाह्य अड़चनें पैदा नहीं होतीं। चाहे सरकार, पूंजी वगैरा और सारी की सारी वर्तमान व्यवस्था रहे या न रहे, जिस घड़ी मनुष्यों की जीवन-कल्पना ऐसी हो जायगी, उसी घड़ी यह उद्देश्य सिद्ध हो जायगा। दूसरे इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए कोई खास समय की आवश्यकता नहीं। कारण हर वह व्यक्ति जो इस जीवन-कल्पना को अपना लेगा, और दूसरों का हित-साधन करने में अपने को लगा देगा, वह उसी क्षण से सार्वजनिक हित सिद्ध करने लगेगा। तीसरे

मानव जीवन के इतिहास के शुरू से ही यह बात होती आई है।

× × ×

समाजवादी कहते हैं—"संस्कृति और सभ्यता की जो सामग्री हम को मिली हुई है, उसको छोड़ना हमारे लिए आवश्यक नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं है कि हम असंस्कृत जन-समुदाय की सतह पर पहुंच जायं। हम तो यह चाहते हैं कि जो लोग सांसारिक सुख-साधनों से वंचित हैं, उनको अपनी सतह पर ले आयें और सभ्यता और संस्कृति के वरदानों में उनको भी साझीदार बनावें। विज्ञान की सहायता से हम यह कार्य सम्पादित कर सकते हैं। विज्ञान हमको प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का मार्ग बताता है। उसके द्वारा हम प्रकृति की उत्पादन शक्ति को बहुत बढ़ा सकते हैं। विद्युत के जोर से हम नियागरा प्रपात और नदियों तथा वायु की शक्तियों का उपयोग कर सकते हैं। सूर्य अपना काम करेगा और सब लोगों के लिए सब चीजों की बहुतायत होगी। आज तो मानव समाज के एक बहुत थोड़े हिस्से को, जो अधिकारारूढ़ है, सभ्यता के लाभ सुलभ हैं और शेष भाग उनसे वंचित है। सुख-साधनों को बढ़ाओ और वे सब के लिए सुलभ हो जायंगे।" किन्तु सच यह है कि अधिकार संपन्न व्यक्ति अनन्त काल से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति ही नहीं कर रहे, बल्कि जो कुछ वे प्राप्त कर सकते हैं, सब को हड़प कर जाते हैं, जिसकी उन्हें ज़रूरत भी नहीं होती। इसलिए सुख-सामग्री में चाहे जितनी वृद्धि क्यों न हो जाय, अधिकारारूढ़ व्यक्ति उस सब को हड़प कर जायंगे।

कोई भी व्यक्ति आवश्यक वस्तुओं का एक सीमा के भीतर ही उपयोग कर सकता है, किन्तु भोग-विलास की कोई सीमा नहीं होती। हजारों मन अनाज घोड़ों और कुत्तों के लिए काम में लिया जा सकता है, लाखों एकड़ जमीन में बगीचे लगाये जा सकते हैं और इस प्रकार की अनेक बातें की जा सकती हैं। आज यही हो भी रहा है। इस प्रकार जब तक उच्च-वर्गों के हाथ में सत्ता है और वे अतिरिक्त सम्पत्ति को भोग विलास

पर खर्च करने की इच्छा रखते हैं तब तक शक्ति और सम्पत्ति की मात्रा चाहे कितनी ही क्यो न बढ़ जाय, निम्न वर्गों के सुख-साधनों में रत्ती भर वृद्धि न होगी। इसके विपरीत उत्पादन शक्ति के बढ़ने और प्रकृति पर प्रभुत्व स्थापित होने के फलस्वरूप उच्च वर्गों को, अधिकारारूढ़ व्यक्तियों को और भी सत्ता प्राप्त हो जाती है जिसके द्वारा वे श्रमजीवी वर्गों को अपनी सत्ता के अधीन रख सकते हैं। और निम्न-वर्ग धनवानों से सम्पत्ति का हिस्सा बंटाने के लिए जितने प्रयत्न करते हैं—क्रान्तियां, हड़तालें आदि—उतना ही संघर्ष बढ़ता है और संघर्ष से सम्पत्ति का नाश होता है। लड़ने वाले दल कहते हैं—यदि हम को सुख-सामग्री नहीं मिलती तो दूसरों को क्यों मिले?

दुनिया में सुख-सामग्री की नदी बहाने के लिए, जिससे हरेक को उसका हिस्सा प्राप्त हो सके, प्रकृति पर विजय प्राप्त करना और भौतिक सम्पत्ति को बढ़ाना ठीक वैसा ही बुद्धिरहित कार्य है, जैसा कि एक खुले मकान को गर्म करने के लिए चूल्हे में अंधाधुंध लकड़ी जलाना। आप चाहे जितनी आग जलाइये, ठण्डी हवा गर्म होकर ऊपर उठ जायगी और उसका स्थान ठण्डी हवा ले लेगी और इस प्रकार मकान में समान रूप में गर्मी न फैल सकेगी। यह स्थिति तब तक रहेगी, जबतक ठण्डी हवाका आना और गर्म हवा का बाहर निकलना बन्द नहीं होगा।

अब तक जो तीन उपाय सूचित किये गये हैं वे सब इतने मूर्खता-पूर्ण हैं कि यह कहना कठिन है कि उनमें सब से अधिक मूर्खतापूर्ण उपाय कौन सा है।

पहला उपाय क्रान्तिकारियों का है। वे उच्च वर्गों को मिटा ही डालना चाहते हैं जो कि सारी सम्पत्ति को चट कर जाते हैं। यह तो ऐसी बात हुई कि जिस चिमनी से गर्मी बाहर निकल रही हो, उस चिमनी को ही तोड़ डाला जाय और यह आशा की जाय कि जब चिमनी न होगी तो गर्मी भी बाहर न निकलेगी। पर यदि प्रवाह वही रहा तो चिमनी की जगह जो सूराख हो जायगा, उससे गर्मी ज्यों की त्यों निकलती रहेगी।

इसी तरह जब तक सत्ता अवशिष्ट रहेगी, सम्पत्ति भी अधिकार संपन्न व्यक्तियों के पास जाती रहेगी।

दूसरा उपाय विलहेम क़ैसर ने आज़माया। उसने वर्तमान व्यवस्था को क़ायम रखते हुए उच्च वर्गों के पास केन्द्रित धन का थोड़ा-सा भाग लेकर दरिद्रता के असीम गर्त में डाला। यह तो ऐसी बात हुई कि कोई व्यक्ति चिमनी के सिरे पर, जहां से गर्मी निकल रही है, पंखे लगवा दे और उनकी सहायता से गर्म हवा को नीचे ठण्डी सतह तक पहुंचाने का प्रयत्न करे। स्पष्ट है कि यह कार्य कठिन और बेकार है, कारण गर्मी नीचे से ऊपर को जाती है और कोई उसको नीचे की ओर धकेलने का चाहे जितना प्रयत्न क्यों न करे, उसको ज्यादा दूर नीचे नहीं धकेल सकता; वह एक दम ऊपर की ओर उठ आयेगी और इस प्रकार सारा प्रयत्न निरर्थक जायगा।

तीसरा और अन्तिम उपाय वह है जिसका आजकल अमेरिका में विशेष रूप से प्रचार किया जा रहा है। इसका आशय यह है कि जीवन के प्रतिस्पर्द्धात्मक और व्यक्तिवादी आधार के बजाय साम्यवादी सिद्धान्त की स्थापना की जाय, लोग संगठन और सहयोग के सिद्धान्त के आधार पर काम करें। शब्द और कार्य दोनों से सहयोग की शिक्षा दी जाय। इसके समर्थक कहते हैं कि प्रतिस्पर्द्धा, व्यक्तिवाद और संघर्ष से शक्ति और फलस्वरूप सम्पत्ति का बड़ा क्षय हो रहा है। इसकी अपेक्षा सहयोग के सिद्धान्त द्वारा कहीं अधिक लाभ उठाया जा सकता है। अर्थात् हरेक व्यक्ति सामुदायिक हित के लिए कार्य करे और बाद में उसको सामुदायिक सम्पत्ति का अपना हिस्सा मिल जाय। यह बात हरेक व्यक्ति के लिए पहले से अधिक लाभकर सिद्ध होगी। यह सब बड़ी बढ़िया बात है, किन्तु इसका निकृष्ट पहलू भी है। वह यह कि प्रथम तो यह कौन जानता है कि जब सम्पत्ति का समान विभाजन होगा तो हरेक व्यक्ति का हिस्सा क्या होगा? इसके अलावा हरेक व्यक्ति का हिस्सा चाहे जितना हो, लोग आज-कल जैसी जिन्दगी बिता रहे हैं, उसको देखते हुए यह हिस्सा

उनको अपर्याप्त ही मालूम होगा। "सब कुछ अच्छा ही होगा और आपको दूसरों के समान ही उपभोग करने का अवसर मिलेगा।"—"किन्तु मैं तो दूसरों के समान नहीं रहना चाहता; मैं उनसे अच्छा जीवन बिताना चाहता हूं। मैं हमेशा दूसरों से अच्छी दशा में रहा हूँ और मैं वैसे जीवन का अभ्यस्त हो चुका हूं।"—"और जहां तक मेरा सम्बन्ध है, मैं औरों की अपेक्षा निकृष्ट हालत में रहा हूँ और अब मैं वैसा ही जीवन बिताना चाहता हूँ जैसा कि दूसरे बिताते आये हैं।" यह उपाय सब से ज्यादा निकम्मा है; कारण उसमें यह मान लिया गया है कि हम जब ऊपर की ओर बढ़ने का प्रयत्न करते हैं, सर्वश्रेष्ठ स्थिति प्राप्त करना चाहते हैं तो हमारे खयाल से वायु के परमाणुओं को गर्मी की मात्रा के अनुसार ऊपर उठने से रोका जा सकता है।

यदि कोई उपाय है तो वह यह है कि लोगों को उनके वास्तविक कल्याण का दिग्दर्शन कराया जाय। उनको बताया जाय कि सम्पत्ति वरदान नहीं है। उल्टे वह तो वास्तविक कल्याण पर पर्दा डालकर मनुष्यों को उससे विमुख करती है।

इसका केवल एक ही उपाय है। वह यह है कि सांसारिक इच्छाओं रूपी छिद्र को बन्द किया जाय। इसी के द्वारा सर्वत्र समान उष्णता पहुँचेगी। किन्तु समाजवादी ठीक इसके विपरीत बात कहते हैं और कहते हैं कि पैदावार बढ़ाने की कोशिश करने से समाज की सम्पत्ति में वृद्धि होती है।

: १० :

अराजकतावाद

अराजकतावादी जो कुछ कहते हैं, वह सही है। वर्तमान व्यवस्था हमारे लिए मान्य नहीं हो सकती। उनका यह कथन भी ठीक है कि मौजूदा परिस्थितियों में सत्ता के होते हुए जो हिंसा होती है, उससे अधिक हिंसा सत्ता का अस्तित्व न रहने पर न होगी। उनकी सिर्फ यही धारणा गलत

है कि अराजकता क्रान्ति के द्वारा कायम की जा सकती है। उसकी स्थापना तो तभी हो सकती है जब ऐसे लोगों की संख्या अधिकाधिक बढ़ती जायगी जो सत्ता के संरक्षण को आवश्यकता महसूस न करेंगे और उसका सहारा लेने में लज्जा अनुभव करेंगे।

"पूंजीपति-संगठन श्रमजीवियों के हाथों में चला जायगा। उस समय इन श्रमजीवियों का उत्पीड़न बन्द हो जायगा और धन का असमान विभाजन भी न होगा।"

"किन्तु उस समय काम के साधन अर्थात् कारखाने कौन स्थापित करेगा और उनकी व्यवस्था कौन करेगा ?"

"यह सब अपने-आप होने लगेगा; श्रमजीवी स्वयं सब व्यवस्था कर लेंगे।

"किन्तु पूंजीपति-संगठन कायम ही इसलिए हुआ था कि हर किस्म के अमली काम के लिए सत्ताधारी संचालकों अथवा व्यवस्थापकों की आवश्यकता अनुभव की गई। यदि कारखाने होंगे तो सत्ताधारी संचालक और व्यवस्थापक भी रहेंगे। और जहां सत्ता होगी, वहां उसका दुरुपयोग भी होगा अर्थात् जिस बात को आप रोकना चाहते हैं, वह होकर रहेगी।"

इस प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता कि राज्य संस्था के बिना हम कैसे रहेंगे, कारण यह प्रश्न ही ग़लत रूप में पूछा जाता है। प्रश्न यह नहीं है कि हम वर्तमान राज्य संस्था के नमूने की या नये नमूने की राज्य सत्ता की स्थापना कैसे करें। न तो मैं और न हम में से और कोई व्यक्ति इस प्रश्न का निर्णय करने के लिए नियुक्त किये गये हैं। फिर भी हम को इस प्रश्न का उत्तर तो देना ही होगा कि नित्य प्रति हमारे सामने जो समस्या उपस्थित होती है, उस का हम किस प्रकार सामना करेंगे ? जो काम हमारे चारों ओर होते रहते हैं क्या हम अपने अन्तःकरण के विरुद्ध उनको मान लें अथवा हम अपने अन्तःकरण के अनुसार आचरण करें और जो कार्य हमारी बुद्धि की कसौटी पर खरे न उतरें उनमें

कोई हिस्सा न लें? इसका परिणाम क्या होगा; किस प्रकार की राज्य संस्था होगी, यह हम कुछ नहीं जानते। यह बात नहीं है कि हम जानना नहीं चाहते, बल्कि हम जान नहीं सकते। हम सिर्फ यह जानते हैं कि यदि हम विवेक और प्रेम अथवा विवेकपूर्ण प्रेम जो हमारे व्यक्तित्व में विद्यमान है के श्रेष्ठतर पथ-प्रदर्शन में चलेंगे तो कोई बुरा परिणाम नहीं निकलेगा, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि मधुमक्षिका अपनी अन्तः प्रवृत्ति के अनुसार अन्य मधुमक्षिकाओं के साथ समूह रूप में अपने छत्ते से हम यों कह सकते हैं बर्बाद होने के लिए उड़कर चली जाती है और उसका कोई दुष्परिणाम नहीं निकलता। किन्तु हम फिर यह कहेंगे कि हम न तो इस प्रश्न का निर्णय कर सकते हैं और न करना ही चाहते हैं।

महात्मा ईसा की शिक्षा की महत्ता इसी में है—यह बात नहीं कि ईसा परमात्मा अथवा महापुरुष थे, बल्कि बात यह है कि उनकी शिक्षायें ऐसी हैं, जिनका खण्डन नहीं किया जा सकता। उनकी शिक्षा की विशेषता यह है कि उसमें समस्या को कल्पना के क्षेत्र से निकाल कर वास्तविकता के क्षेत्र में पहुंचा दिया गया है। "तू एक मनुष्य है, विवेकवान और दयालु प्राणी है, और तू यह भी जानता है कि तेरे में ये गुण सर्व-श्रेष्ठ हैं। इसके अलावा तू यह भी जानता है कि आज या कल तुझे मरना है, विलीन हो जाना है। यदि कहीं ईश्वर है तो तुझ को उसके सामने जाना होगा और वह तुझ से तेरे कामों का हिसाब मांगेगा। वह पूछेगा कि तूने ईश्वरीय नियम के अनुसार अथवा अपनी आत्मा के उच्च गुणों के अनुसार आचरण किया है अथवा नहीं? यदि ईश्वर कहीं नहीं है तो तू विवेक और प्रेम को ही सर्वोच्च गुण समझ और अपनी अन्य सब मनोवृत्तियों को उनके आधीन कर दे, न कि उन गुणों को तेरे पशु स्वभाव के आधीन होने दे, जीवन-सामग्री की चिन्ता, कष्ट-भय और भौतिक संकटों से उनको दूर रख।"

मैं पुनः कहता हूं कि प्रश्न यह नहीं है कि कौन सा समाज श्रेष्ठ

होगा—हथियारों, तोपों और फांसी से सुरक्षित अथवा इन साधनों से रहित। किन्तु मनुष्य के सामने केवल एक ही प्रश्न है। और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। "क्या तू, जो एक विवेकवान और भला प्राणी है, जो थोड़े से समय के लिए इस संसार में आया है और किसी भी क्षण यहा से विदा हो सकता है—भूल करने वाले आदमियों अथवा भिन्न जाति के मनुष्यों को मौत के घाट उतारने में सहायक होगा? क्या तू जंगली कही जाने वाली जातियों के समूल विनाश में हिस्सा लेगा? क्या तू पैसे के लिए शराब और अफ़ीम के द्वारा मनुष्यों की पीढ़ियों के अस्वाभाविक विनाश में सहयोग देगा? क्या तू ऐसे कार्यों में भाग लेगा अथवा उन लोगों के साथ सहमत होगा, जो इन कार्यों को होने देते हैं। बोल—तू क्या करेगा?"

जिन लोगों के सामने भी यह प्रश्न आ गया, उनका केवल एक ही उत्तर हो सकता है। इसका परिणाम क्या निकलेगा, मैं नहीं जानता, कारण मेरे पास यह जानने का साधन नहीं है। किन्तु मैं यह निश्चित रूप से जानता हूं कि ऐसी स्थिति में करना क्या चाहिए।

यदि तुम पूछो—"होगा क्या?" तो मैं उत्तर दूंगा कि परिणाम अच्छा ही निकलेगा, कारण विवेक और प्रेम के अनुसार आचरण कर मैं उस सर्वश्रेष्ठ नियम का अनुसरण कर रहा हू, जिसका कि मुझे पता है।

× × ×

अधिकांश आदमी, जिनका हृदय सच्चे भ्रातृत्व के प्रकाश से प्रकाशित है, इस समय अपहरणकारियों की धूर्तता और पाखण्ड के शिकार बन रहे हैं। वे उनको अपना जीवन बर्बाद करने के लिए विवश कर रहे हैं। यह भयंकर स्थिति है और अत्यन्त निराशाजनक प्रतीत होती है। इन अधिकांश लोगों को दो ही मार्ग नज़र आते हैं। एक तो यह कि हिंसा का मुकाबला हिंसा से किया जाय, आतंकवाद, विस्फोटक बमों और पिस्तोलों का सहारा लिया जाय—जैसा कि निहिलिस्ट सम्प्रदाय के

अनुयायियों और अराजकतावादियों ने लेने का प्रयत्न किया है। दूसरा यह कि सत्ता के साथ समझौता कर लिया जाय, उसमें भाग लिया जाय और इस प्रकार लोगों को धीरे-धीरे उस पाश से मुक्त किया जाय जिसमें उनको जकड़ दिया गया है। किन्तु यह दोनों ही रास्ते बन्द हैं।

जैसा कि अनुभव से सिद्ध हो चुका है बम और पिस्तौल प्रतिक्रिया ही पैदा करते हैं और हमारी सब से बहुमूल्य शक्ति अर्थात् लोकमत की शक्ति नष्ट हो जाती है। दूसरा रास्ता इसलिए बन्द है कि राज्य संस्थायें यह अच्छी तरह जानती हैं कि सुधारकों को किस हद तक अपने कामों में दखल देने दें। अधिकारी सिर्फ उसी बात को स्वीकार करते हैं जो उनकी व्यवस्था को तोड़ने वाली नहीं होती, किन्तु यह महत्व की बात नहीं। पर जो वस्तु उनके लिए हानिकर होती है, उसके प्रति वे बड़े सशंक होते हैं। वे उन व्यक्तियों को भी अपने साथ ले लेते हैं, जो उनके विचारों से सहमत नहीं होते और जो सुधार करना चाहते हैं। ऐसा वे केवल इसलिए नहीं करते कि वे इन लोगों की मांगें पूरी करना चाहते हैं, बल्कि अपने और अपने शासन तंत्र के हित की दृष्टि से भी ऐसा करते हैं। ये लोग यदि शासन तंत्र से अलग रहें और उसका विरोध करें तो उसके लिए बड़े खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं। इसलिए अधिकारी इन लोगों को रियायतों द्वारा आकर्षित करके निरस्त्र बना डालते हैं और फिर अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए उनका उपयोग करते हैं अर्थात् उनसे जनता के शोषण और उत्पीड़न में सहायता लेते हैं। इस प्रकार जब ये दोनों ही मार्ग मज़बूती के साथ बन्द कर दिये गये हैं और उनमें प्रवेश करना महाकठिन है तब हमारे सामने और कौन सा मार्ग शेष रह जाता है? हिंसा का उपयोग करना असम्भव है, उससे केवल प्रतिक्रिया का जन्म होगा। अधिकारियों का साथ देना भी सम्भव नहीं, क्योंकि उस दशा में उनके हाथ की कठपुतली बन जाना पड़ता है। अतः एक मार्ग शेष रह जाता है और वह यह कि मन, वचन और कर्म से अन्याय का प्रतिकार किया जाय; अन्याय का साथ देकर उसकी

शक्ति को न बढ़ाया जाय। आवश्यकता है तो केवल इसी बात की और यह अवश्य सफल होगी। यही ईश्वर की आज्ञा है और यही महात्मा ईसा की शिक्षा है।

× × ×

: ११ :

तीन उपाय

श्रमजीवियों की अवस्था सुधारने और मनुष्यों में भ्रातृत्व स्थापित करने के तीन उपाय हैं।

(१) अपने लिए दूसरों से काम न कराना। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से भी उनसे काम करने को न कहना अर्थात् ऐसी चीजों की यानी भोग विलास की चीजों की माग न करना, जिनके लिए कि अतिरिक्त परिश्रम करने की आवश्यकता पड़ती है।

(२) जो काम कठोर और अरुचिकर हो, उनको अपने लिए और यदि सम्भव हो तो दूसरों के लिए भी स्वयं करना।

(३) प्रकृति के नियमों का अध्ययन करना और ऐसे तरीकों का आविष्कार करना, जिन से परिश्रम की कठोरता कम हो—यथा यंत्र (मशीनरी), भाफ, बिजली आदि। यह वास्तव में एक साधन नहीं, बल्कि दूसरे उपाय का परिणाम और प्रयोग होना चाहिए। जब मनुष्य स्वयं अपने परिश्रम की कठोरता को कम करने के लिए, अथवा कम से-कम ऐसे श्रम की कठोरता कम करने के लिए, जिसका उसने स्वयं अनुभव किया हो, आविष्कार करेगा, तभी वह ऐसी चीजों का आविष्कार करेगा, जिसकी वास्तव में आवश्यकता है। उस दशा में वह किसी अनावश्यक आविष्कार पर अपनी शक्ति व्यय न करेगा।

आज कल मनुष्य केवल तीसरे ही उपाय को काम में ला रहे हैं और वह भी ग़लत तौर पर, कारण वे दूसरे उपाय से दूर ही रहते हैं। वे पहले और दूसरे उपाय को आजमाने के लिए न केवल तैयार ही नहीं

है, बल्कि उनके विषय में कुछ सुनना तक नहीं चाहते।

× × ×

स्थायी क्रान्ति तो केवल एक ही हो सकती है और वह है नैतिक अर्थात् मनुष्य की आत्मा का पुनरुद्धार हो। यह क्रान्ति किस प्रकार हो? किसी को ज्ञात नहीं कि मानव समाज में यह क्रान्ति किस प्रकार होगी, किन्तु प्रत्येक मनुष्य इस को अपने भीतर स्पष्टतः अनुभव करता है। पर विचित्र बात तो यह है कि इस दुनिया में हरेक मानव समाज को बदलने के विषय में तो सोचता है, किन्तु खुद अपने को बदलने के बारे में कुछ नहीं सोचता।

लोगों ने गुलामी की प्रथा को मिटा दिया और अपने घरों में गुलाम रखना भी बन्द कर दिया, किन्तु अपना अमीराना रहन-सहन नहीं छोड़ा। उन्हें अब भी दिन में कई बार अपने कपड़े बदलने की आवश्यकता पड़ती है, एक के बजाय उन्हें अपने रहने के लिए दस-दस कमरे चाहिए, उन्हें नित्य प्रति पांच पकवानों से भरे थाल चाहिए, मोटर और फिटन चाहिए आदि-आदि। और ये सब भोग-विलास की सामग्री कहाँ से आये यदि मनुष्य कारखानों में गुलामों की भांति काम न करें? यह स्पष्ट सत्य है, किन्तु कोई इसको देखता नहीं।

हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग के प्रकाशन

१, **आधुनिक भारत** (आचार्य जावड़ेकर लिखित और श्री हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा रूपांतरित भारत का आधुनिक राजनीतिक इतिहास) ४), ५)

२. **आगे बढ़ो** (स्वेट् मार्डेन कृत युवकोपयोगी पोथी) १)

३. **दिव्य-जीवन** ,, ,, ।।।)

४. **फांसी** (विक्टर ह्यूगो कृत) ।।=)

५. **व्यावहारिक सभ्यता** (युवकोपयोगी) १)

६. **पथिक** (पं० रामनरेश त्रिपाठी रचित खण्ड-काव्य) ।।।)

७. **स्वप्न** ,, ,, ,, ।।।)

८. **मिलन** ,, ,, ,, ।।।)

९. **कन्या शिक्षा** (स्व० पं० चन्द्रशेखर शास्त्री लिखित) ।।=)

१०. **किसानों का सवाल** (पं० जवाहरलालजी नेहरू की प्रस्तावना सहित) ।।)

११. **अंग्रेजी राज्य के सौ साल** (छगनलाल जोशी) ।=)

१२. **हिन्दी गीता** (हरिभाऊ उपाध्याय कृत समश्लोकी भाषांतर) ।।)

१३. **पेखन** (पं० रामनरेश त्रिपाठी लिखित बाल-नाटक) ।।=)

१४. **हिंदी पद्य रचना** (पं० रामनरेश त्रिपाठी कृत) ।)

१५. **हिंदू-धर्म की आख्यायिकायें** (आचार्य नानाभाई भट्ट लिखित हिन्दू-धर्म की रोचक कथायें) १)

१६, **हिंदुओं के व्रत और त्यौहार** (नवयुग साहित्य सदन द्वारा प्रकाशित) २)

१७. **बाल साहित्य माला** (**जीवनियां**—बुद्ध ।=), शिवाजी ।), हरिश्चन्द्र ।); चंद्रगुप्त ।=); अशोक ।=); **कहानियां**—देश प्रेम की कहानियां ।=); नसीहत की कहानियां ।=) कौआ चला हंस की चाल ।)

१८. **विश्व की विभूतियां** (पं० हरिभाऊ उपाध्याय तथा चंद्रगुप्त वार्ष्णेय लिखित विद्यार्थियों के लिए उपयोगी जीवनियां) १।।)